नई सरहदें

(उपन्यास)

बंशीलाल यादव

कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर

NAI SARHADEN (NOVEL)

BANSILAL YADAV

Rs : 10-00

नई सरहदें (उपन्यास)

बंशीलाल यादव

मूल्य : दस रुपया

मुद्रक :

एच० सी० कपूर

टाइम्स प्रिन्टिग प्रेस, ब्रह्मपुरी अजमेर ।

रानू को—

'यादव'

एक

छाया चित्र जनस्रोत में नियति के पवन की थपेड़ लग रही है, वह संकुल होकर घूम रहा है और हम एक तिनके के सदृश उसी में इधर-उधर बह रहे हैं। कभी भंवरों में चक्कर खाते हैं, कभी लहरों में ऊपर-नीचे होते हैं.........।

कैसे-कैसे अरमान और आशाएं थीं उमा के दिल में, जिस समय वह अपनी कैन्सर-ग्रस्त रोगिणी मा को डाक्टर केदार से उपचार कराने हेतु कानपुर से यहां जोधपुर लेकर आया था। उसे पूर्ण विश्वास था कि ऐसे दक्ष डाक्टर के इलाज से मा अवश्य अच्छी हो जायेंगी और लौटते समय उसका, उसकी सातवर्षीय छोटी बहन सुशी का और मां का-सबके चेहरे खुशी से दीप्त हो जाएंगे पर कहाँ, कुछ भी तो नहीं हो सका। नियति का लेख बंधा है। उसका एक भी अक्षर नहीं बदलता। उसने कितनी भागदौड़ की, डाक्टर ने भी उपचार में कोई कसर न छोड़ी किन्तु उसकी मा के जीवन की दीवार में जो बड़ा-सा छेद हो गया था, उसमें एक दिन चुपके से काल-रूपी सर्प घुस ही आया। देखते-देखते उसकी अपनी मा की नसें तन गईं, देह चिंगुरी और ड्रामा समाप्त हो गया। उसके हाथ में यदि कुछ आया तो माँ की श्वांस-रिक्त देह, और कानों से यदि कुछ टकराया—तो वह थी—अपनी छोटी बहन सुशी की हल्की तेज़ चीख, उसके अपने आर्तनाद की प्रतिध्वनि—मा!

उसे याद है, कमरे की खामोशियाँ। एक खामोश जनाज़े की तरह। जैसे हर रोज़ समय ठहर जाता हो। मां के रक्तहीन पतले लम्बे मुख की नीरसता, गड्ढे में धंसी निष्प्रभ आँखों के नीचे की कालिमा और कालिमा की सघनता। माथे की ढीली त्वचा की सिकुड़न। आंखों में तैरता खारी जल। जल और मूकवेदना के ओरे-धोरे दृष्टि से अनायास

ही छलकता गद्गद् वात्सल्य। और साथ ही दृष्टि को घेरे बैठी निराशा, दुर्बोध और जटिल शून्यता। विकृत, फैली-सी आंखें।

उसे याद है, मां का जर्जर शरीर। उसकी अन्तिम दिन की बेचैनी और छटपटाहट। रह रह कर तकिये पर सिर पटकना। उसका अपनी मां को ज्ञानशून्य और विक्षिप्त-सा मां के चेहरे की ओर एकटक देखना। बार-बार मां का नेत्र खोलना और डबडबाई, कातर किन्तु स्नेहपूर्ण दृष्टि से कभी उसे देखना और कभी कोने में सिमटी बैठी सहमी-सी सुशी को।

'डाक्टर को ले आऊँ मां?' उसने परिस्थिति समझते हुए हौले-से मां से पूछा था।

अवहेलना के स्वर में मां बोली—'नहीं बेटा, मैं अब अधिक देर नहीं जीऊँगी। मेरा पड़ाव आ गया है। और फिर डाक्टर भगवान थोड़े ही है बेटा!'

वह कातर नेत्रों से मां के मुर्झाये चेहरे को केवल देखता रह गया था। कि तभी घर की मालकिन, जिनके मकान में वह किराये से रह रहा था, और उनकी लड़की गीता ने कमरे में प्रवेश किया। वह अब तक निश्चल और मूक बैठा था। उनके आते ही उसने उठकर उनके लिये एक और दरी डाल दी।

गीता सुशी को अपने पास खींचकर दरी के कोने पर बैठ गई और मालकिन मां की तबियत इत्यादि के बारे में पूछ-ताछ करने लगी। कुछ देर बातों का क्रम चलता रहा। फिर मालकिन गीता के पास नीचे दरी पर बैठ गईं।

दोनों मां बेटी का इस प्रकार आना और रोगी के सम्बन्ध में पूछ-ताछ करना चाहे लोकाचार रहा हो, चाहे शिष्टाचार रहा हो, पर उसका मूक मन उनके प्रति अवश्य श्रद्धा से भर उठा था। खास तौर पर एक परदेश में, इससे अधिक अपेक्षा भी क्या की जा सकती थी?

उसने अपने हृदय में एक नवीन बल और साहस का संचार अनुभव किया था ।

और तभी मां ने रुक-रुक कर कष्ट के साथ अपने उद्‌गार यों व्यक्त किए थे—'देखो तो, मेरा बेटा कैसा सूख कर कांटा हो गया है । न सोने की सुध है, न पहनने-ओढने की । देखो तो, कितनी रातों की नींद इसकी आंखों के गिर्द घूम रही है ।'

चिहुँक कर अवरूद्ध कण्ठ से वह बोला—'मुझे कुछ नहीं हुआ है मा । मैं ठीक हूँ । तुम अपना मन भारी न करो ।'

उस समय माँ के चेहरे की नीरसता और भी सघन हो चली, जैसे चेहरे पर कोई बादल उतर आया हो ।

तभी मालकिन बोली—'तुम बड़ी भाग्यवान हो उमा की माँ, जो ऐसा सुशील, माता-पिता की सेवा करने वाला बेटा तुम्हें भगवान ने दिया ।'

बात सुनकर वह कुछ लजा-सा गया था । मन ही मन मालकिन के प्रति आदरभाव उसके हृदय में लहराया । वह निरूत्तर ही रहा । केवल पूर्ववत् माँ का प्यार से हाथ सहलाता रहा । थोड़ी देर बाद माँ ने बहुत ही उदास और ममताभरी दृष्टि से शायद सुशी की ओर देखा था, जो गीता की गोद में सिमटी-सिकुड़ी, कातर भाव से माँ की ओर ही देख रही थी ।

और तभी, चुपके से उमा ने गीता पर एक नज़र डाली । दोनों ने एक दूसरे को सहसा देखा और गीता की नज़र झुक गई । पहले भी दोनों ने एक दूसरे को कई बार देखा था । इस बार भी देखा था । अब तक के देखने में कोई विलक्षणता नहीं थी । केवल एक सरल भाव था । सहज और विरक्त भाव । कदाचित शुद्ध सहानुभूति का भाव, और शायद करुणा पर टिका हुआ भाव ।

माँ को शान्त हुए अब लगभग एक महीना होने आया । कितने ही आंसू गिर-गिर कर गालों पर सूख गये और धीरे-धीरे आंसुओं के प्रवाह

का वेग उतना न रहा। कार्य-कर्म से निवृत्त होकर वह वापस कानपुर लौट जाना चाहता था किन्तु मालकिन ने उसे रोक लिया।

बहुत ही अनुरोध और आग्रह-पूर्ण स्वर में वह बोलीं—'जो होना था, सो हुआ। उसे अब भूल जाओ। माँ की चिन्ता को लेकर जीवन के पीछे मत पड़ो बेटा। सुशी है—उसे संभालो। बहन है तुम्हारी। अब तुम्हारे सिवा उसे किसका सहारा?' वह कुछ रुकीं और फिर उसी स्नेह के साथ बोलीं—'यहीं कोई काम-काज खोजलो। जब तक काम नहीं मिले, गीता है—उसे ही पढाया करो। इन्टर में है, इम्तिहान सर पर है, पर वह पढती-पढाती कुछ नहीं। मुझे विश्वास है, तुम्हारे संरक्षण में वह निकल जायेगी।' इतना कह, उन्होंने एक उच्छ्वास लिया और बात को आगे बढ़ाते हुए कहा—'मैं इस इतनी बड़ी हवेली में अकेली ही हूँ और घर काटने को दौड़ता है—।'

'पर.........मैं ......'सकुचाते हुए उमा इतना ही बोल सका।

'तुम किसी बात की चिन्ता न करो। तुम यहाँ रहोगे तो हमें भी बस्ती रहेगी। सब आदमियों की ही तो माया है। अब तुम ही सोचो, इतनी बड़ी हवेली, रुपै-पैसे को क्या चाटूं? आज हूँ, कल नहीं।' यह कह, मालकिन ने दीर्घ निश्वास फैंका। मालकिन का एक-एक शब्द उसके हृदय को छूता चला गया। कुछ बोलना चाहते हुए भी, वह कुछ बोल न सका।

'मेरा तुम पर कोई जोर नहीं है बेटा। मेरी यह प्रबल इच्छा थी, सो मैंने तुम्हें व्यक्त करदी है। मानना नहीं मानना, तुम्हारे आधीन है।' मालकिन की आँखें इस छोर पर आकर कुछ सजल हो आई थीं।

शब्दों में माँ का-सा मिठास था। शीतल स्नेह था, अपनत्व था। वृद्धा के उस अनुरोध के नीचे वह दब-सा गया था। स्वीकृति-सूचक भाव के साथ वह वहां से उठकर अपने कमरे में आ गया था।

फिलहाल उसने कानपुर लौट जाने का विचार त्याग दिया था।

कुछ दिनों में ही मालकिन के प्रभाव और कोशिश से उसे भारत

बैंक में अकाउन्टेन्ट का पद मिल गया था और उसने एक महरी घर का काम-काज और खाना बनाने के लिए रखली थी। सुशी गीता के साथ ही उसी के स्कूल में पढ़ने जाने लगी थी। स्कूल से आकर भी वह अधिकतर गीता के पास ही रहती। वह उससे इतना हिलमिल चुकी थी। कदाचित गीता के अपने स्नेह और सहृदयता ने ही सुशी का मन जीत लिया था और इतना निकट खींच लिया था। उधर शायद सुशी ने अपनी सरल, निष्कपट और निस्वार्थ बातों और सेवाओं से गीता को अपना बना लिया था।

खुशी से भरकर कभी सुशी उसके सांझ घर लौटने पर बड़े ही उत्साहित स्वर में कहती—'देखो भैया, गीता बहन ने आज मुझे चाकलेट दिए, बालों की यह पिनें दीं और यह देखो, यह नीली चूड़ियाँ भी ·····.।'

सुनकर वह न जाने कैसा अनुभव करने लगता। उस अवस्था में बरबस उसका हृदय यही सोचता कि यह गीता नाम की लड़की अवश्य ही बहुत अच्छी लड़की होगी। उसके हृदय में पता नहीं कितना प्यार भरा होगा। पर परोक्ष में वह दिखाने को सुशी से दृढ़ स्वर में कहता—'यह ठीक बात नहीं है सुशी। तुम मत लिया करो कोई चीज़ उनसे।' इतना कह, सुशी की ओर से अनुकूल उत्तर पाने की प्रतीक्षा करता।

किन्तु सुशी झट से कहती—उमा के मन से, उसकी आशा से प्रतिकूल बात—'मैं कुछ नहीं मांगती और न लेती हूँ भैया। वही सब कुछ मुझे ज़बर्दस्ती दे देती हैं, तो फिर मैं क्या करूं?' और फिर अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने के लिए कहती—'सच भैया, वह मुझे बहुत प्यार करती हैं··········।' उस समय सुशी का चेहरा खुशी से खिल उठता।

और तब वह, सुशी—गीता के इस पारस्परिक प्यार के झंझट में नहीं पड़कर, कोई कविता लिखने बैठ जाता। उधर सुशी भाग कर झट से गीता के पास पहुँच जाती।

इस तरह सुशी एक प्रकार का 'इनफरमेशन ब्यूरो' था, जहाँ से गीता को उसके और उसके गीता को प्रतिपल समाचार मिलते रहते थे।

छुट्टी का दिन था। आसमान पर सुबह से ही बादल घिरे थे। ठण्डी-ठण्डी हवा चल रही थी। वह बैठा कविता लिखने में ही व्यस्त था............।

मैं समझ न पाया रे अब तक
किस हेतु जिया करता सब जग
लघुता से भी लघु जीवन कण
ले कुछ विचित्र-सा अपनापन
दो दिन दुनिया के परदे पर करता हठात् निज गति दुर्बल !!

—सुशी उसे पुकार रही थी किन्तु उसने सुना ही नहीं। उसकी कलम उसी उत्साह से चलती रही—

कैसा विशाल सपना-सा जग
अस्थिर असंख्य जीवों का मग
सब साथी फिर भी अलग-अलग
सब सहचर पर सब स्वार्थ विलग
मैं किस अनहोनी स्नेह-आश पर बांधूं जगती से अञ्चल !!

—कि उसने अनुभव किया, सुशी उसे ज़ोर-ज़ोर से सम्बोधित करके कह रही है—'भैया, गीता बहन आई हैं। देखो तो, गीता बहन।'

और अब उमा जैसे जागा हो। उसने हड़बड़ाकर दरवाज़े की ओर देखा।

दो

साड़ी का रंग हल्का आसमानी, जिसमें उड़ते हुए बादलों का आभास। किनारे-किनारे चमकता हुआ गोटा, जैसे रह-रह कर बिजली

चमक उठी हो। गोरी, मांसल अनावृत्त बाहें। स्कन्ध-मूल से ऊँचाई का पथ निर्देश करते हुए वक्षकन्दुक। आंखें—जिनमें आकर्षण का मद। चेहरा लजाता-सा, पृथ्वी की ओर झांकता हुआ।—प्रथम बार मुक्त भाव से आज उसने गीता को देखा।

उमा ने हंसने की चेष्टा की। फिर नीचे बिछी दरी की ओर बैठने का इशारा कर कागज़ समेटते हुए बोला—'बैठिये।'

कुछ झनाक् सा हुआ गीता के मन में। वह जल्दी से बैठ गई। सुधा-संचित स्वर अब भी उसके कानों के लवों पर रेंग रहा था।

उमा किताबें देखने लगा। और गीता ने इस अवधि में इस ग्रेजुएट उमा को प्रथम बार निकट से चुप-चाप देखा। चेहरा ऐसे लग रहा था, मानो किसी सरस श्यामल खेत पर टिड्डी-दल उतर पड़ने से सूख गया हो। तो गीता के मन में अव्यक्त-सी वेदना और करुणा कसमसाई और उसके पोर-पोर में फैल गई।

गीता के समीप दरी पर आकर बैठते हुए और एक किताब का पृष्ठ खोलते हुए, उसने कहा—'पढ़ो!'

स्वर ने गीता को चौंका दिया। मास्टर साहब चेहरे पर गम्भीरता लाने की व्यर्थ चेष्टा कर रहे थे। उसे सक्षिप्त-सी हंसी आई। उसने नहीं पढ़ा, उससे नहीं पढ़ा गया।

उमा ने फिर कहा—'पढ़ो।'

तो सहमी-सी गीता हौले-हौले पढ़ने लगी। कोई कविता थी—'पूजा' शीर्षक की।

………बादल घिरे थे। ठण्डी-ठण्डी हवा चल रही थी।

गीता पढ़ती जा रही थी। जब वह पढ़ चुकी तो उमा अर्थ समझाने लगा। समझाते-समझाते ही जैसे उसका हृदय चिहुँक उठा। अन्य-मनस्क स्वर में बोला—'यहाँ, मैं इस 'पूजा' की बात से सहमत नहीं हूँ। नारी को इस प्रकार आदर्श का प्रतीक और भव्य बनाकर प्रस्तुत करना अत्युक्ति मात्र है। क्या नारी वास्तव में ऐसी ही गरिमायुक्त एवं महान

है ? क्या कवि की इस कल्पिता नारी-सी कोई वास्तविक जगत में भी कहीं देखने में आती है ? सीता—सी, सावित्री—सी, शकुन्तला—सी भव्य और आदर्शमयी ? बोलो……… !'

इस बिन्दु पर आते-आते उमा का स्वर विक्षिप्त और उत्तेजित हो उठा था।

गीता कुछ नहीं बोली। वह तो जैसे उसके स्वर, स्वर की ओज-पूर्णता तथा उसके व्यक्तित्व से दब-सी गई थी।

वह हंस पड़ा। यह हंसी उसकी अपनी 'पेटेन्ट' है। और यह हंसी जैसे रो पड़ने का दूसरा रूप है।

संक्षिप्त-सा रुक कर उसने फिर कहा—'पढ़ो।'

गीता पढ़ने लगी। वह अर्थ समझाने लगा। उसके समझाने के सुन्दर ढंग, उसकी बुद्धि-प्रखरता और संचित ज्ञान ने मिलकर गीता के गिर्द हिपनाटिक तार से बिखेर दिये।

बीच ही में रुक कर उसने कहा—'चौसर' का नाम सुना है ?'

गीता नीरव ही रही।

तो बताया—"वह इंगलैण्ड का पहला कवि था। उसने 'स्त्री' को लेकर कहा है कि स्त्रियों पर भक्ति और चापलूसी का विशेष प्रभाव पड़ता है।' इतना कह, वह तत्काल बोला—'शेक्सपीयर ने हेमलेट' में कितना सुन्दर आक्षेप किया है—'दुर्बलता का नाम ही स्त्रीत्व है।' और इन सबकी पराकाष्ठा है गोल्डस्मिथ के शब्दों में—'स्त्री प्रकृति में सन्तुष्टता मात्र का स्वरूप है।'

इतना सब कुछ कह, वह पुनः हंस पड़ा। यह उसकी अपनी 'पेटेन्ट' हंसी है। और यह हंसी रो पड़ने का दूसरा रूप है।

फिर कहा—'आगे पढ़ो !'

× × × ×

खुली छत है और खुली छत पर विस्तृत आकाश। पेड़ों के झुरमुट

के परे, पहाड़ियों की गोद में सूरज अन्तिम घड़ियां गिन रहा है। वह निस्तेज है, निष्प्रभ है और नितान्त दुर्बल। आसपास हवा की धीमी-धीमी सरसराहट है।

गीता उस खुली छत पर अन्य-मनस्क सी बैठी है। और दिनों की अपेक्षा वह आज कुछ अधिक उद्विग्न है। क्षितिज के उस पार जो महा-शून्य है, उसमें जाकर जैसे वह उलझ-सी गई है।………खद्दर का मोटा कुर्त्ता है और खद्दर की ही धोती। चौड़ा मस्तक है, उसमें चमकती हुई बड़ी-बड़ी दो भावुक आंखें। विशाल हृदय, और एक भावुक ग्रेजुएट-यह हैं उसके मास्टर जी। जिनके पढ़ाने का ढंग, उच्च और गम्भीर विचार, गीता को बहुत ही प्रिय हो उठे हैं। वह जैसे खिचती चली जा रही है, खिचती चली जा रही है। इस आकर्षण मे गति है और श्रद्धा है। इस बिन्दु पर आकर, जहां आकाश और पृथ्वी के बीच कोई भेद नहीं रह जाता, उसने अपनी सारी श्रद्धा उनके चरणों में उंडेल दी है, और वहां अब कोई भेद नहीं रहा है। सब कुछ एकाकार हो गया है। उसकी सेवा जैसे स्वीकार करली गई है और मास्टरजी खिल उठे हैं। उन्हें मुस्कराता देख, वह खुशी से भीग गई है। एक अव्यक्त-सी सिहरन जैसे उसके पोर-पोर में व्याप्त हो गई है। इस हर्षातिरेक में वह स्वप्न से जाग गई और फिर हड़बड़ा कर उसने आँखें खोल दीं।

उस महाशून्य में उसने देखा, पृथ्वी और आकाश के उस सुन्दर मिलन के ठीक मध्य में एक काली रेखा स्पष्ट दिखाई दे रही थी, जिससे पृथ्वी और आकाश का विभाजन हो रहा था। जैसे वह सुरमई रंग की रेखा उस महा शून्य के पेट में से हुँकार भर रही है। उसे लगा, जैसे यही परम सत्य है, उसकी आंखें अनायास ही डबडबा आईं और उसने चुपके से उन्हें पौंछ डाला। उड़ती हुई साड़ी को उसने ठीक से माथे पर रखा और चोटी को आंचल में दुबका लिया।

वह उठने को ही थी कि सुशी ने पीछे से आकर उसकी दोनों आंखें मूंद लीं और फिर तत्काल सामने आ, खिलखिला पड़ी। जल्दी से पूछा—'क्या सोच रही थीं गीता बहन ?'

तो हँसकर कहा—'कुछ नहीं । यों ही बैठी थी ।'

तो मुंह को कड़ुआ बनाती-सी सुशी बोली—'हमें ही सिखा रही हैं आप झूठी कहीं की । आंखें तो बता रही हैं जैसे अभी-अभी आप रो चुकी हैं ।'

इस तथ्य पर फिर से रूलाई आने को हुई किन्तु पढ़ने का समय हो गया ।

दोनों मौन बनी छत पर से नीचे उतर आईं । अन्तिम सीढ़ी पर आते आते गीता ने कहा—'तुम चलो । मास्टर साहब से कहना—मैं अभी आई ।'

कुछ देर बाद वह बैग लिए उमा के कमरे में पहुँची और उमा को देखते ही हाथ जोड़ लिए और बैठ गई ।

उमा ने वैसे ही पूछ लिया—'आज देर से कैसे आईं ?'

तो हौले से गर्दन नीची कर कह दिया—मैं क्षमा चाहती हूँ ।'

उमा केवल हंस भर दिया । फिर कहा—'अच्छा, पढ़ो ।'

कोई कहानी-कला का विषय था । पढ़ाते-पढ़ाते ही उमा बीच में बोल उठा—'गीता, मुझे ग्राम-जीवन को स्पर्श करने वाली कहानियां अधिक प्रिय हैं । अतः मुझे वही लेखक अधिक प्रिय हैं, जो अपनी कल्पना को उन खुले मैदानों पर उतारते हैं, जहां सर्व प्रथम आबादी शुरू हुई थी और जहां से धीरे-धीरे बस्ती की ओर फैली थी । यही कारण है कि प्रेमचन्द जी आज भी हमारे बीच सजीव हैं और उनकी कृतियां अब भी एक विचित्र ताज़गी लिए हुए हैं । यह स्पष्ट ही है । इन्ही बस्तियों से दूर—सभ्यता से पिछड़े हुए, खुले मैदानों में, उन फूस के हल्के-हल्के झोंपड़ों में हमारी भारतीय सभ्यता का चित्र अंकित है । और यह ईंटों-पत्थरों से बनी ऊँची-ऊँची मीनारें जैसे सारी मानवता का सांस-रोके खड़ी हैं । यहां, गुनाहों की मंडियों से उठने वाला आर्तनाद शून्य के वातावरण को सदैव कम्पित किए रखता है ।' इतना कह, वह

रुक गया, मानो सांस लेने को रुक गया हो। पर इतने में ही उसके भीतर आलोड़ित होते हुए विचार यों के यों स्पष्ट हो चुके थे।

गीता प्रस्तर-प्रतिमा की तरह बैठी सुन रही थी।

फिर धीमे से उसने कहा—'पढ़ो।'

पढ़ाई चलती रही और जब पढ़ाई समाप्त हुई तो एक अंगड़ाई लेकर उमा ने दीवार के सहारे अपनी पीठ टेक ली।

गीता कुछ देर निश्चल बैठी रही। फिर अपना सम्पूर्ण साहस बटोर कर, अपने हृदय में धुकुर-पुकुर लिए उसने एक टिकिट उमा के सम्मुख रख दिया—बोली कुछ नहीं।

तो उमा ने उस टिकिट की ओर देखते हुए पूछा—'यह क्या है?'

'हमारे स्कूल में कल शाम सात बजे ड्रामा है। आप ज़रूर आयें।' जैसे वह यह सब कुछ एक ही सांस में कह गई और फिर उत्तर की प्रतीक्षा में उसने नज़रें उठाकर सहमे भाव से उमा की ओर देखा।

उमा बोला—'बहुत-बहुत धन्यवाद। लेकिन मुझे ऐसे प्रोग्रामों में कोई रुचि नहीं। खेद है, मैं नहीं आ सकूंगा।'

गीता तिलमिला उठी। अनायास ही टप्-टप् दो आँसू पुस्तक पर आ गिरे।

उमा स्वयं की असहिष्णुता पर विस्मित हो उठा। उसका मन क्षोभ से भर गया। तत्काल उसने लज्जित और पश्चाताप के स्वर में कहा—'नहीं-नहीं, मैं आने का प्रयास करूँगा। लाओ टिकिट दे दो।'

गीता ने टिकिट बढ़ा दिया। और उमा ने देखा—जैसे आँसू अब हँस पड़े थे।

तीन

उमा जिस बैंक में काम करता था, वह हाल ही में खुली एक छोटी सी ब्रांच थी। कर्मचारियों की संख्या भी थोड़ी ही थी। लोग—'कॉस्मा-

पोलिटन' थे और संख्या में थोड़े होने के कारण अल्प समय में ही परस्पर घुलमिल-से गये थे। एक उमा ही बस, ऐसा था जो सबसे दूर-दूर और तटस्थ-सा रहता था। अपने काम से काम और अधिकतर चुप रहना उसकी आदत हो गई थी। वह ऐसा क्यों है, यह वह स्वयं नहीं जानता था। अपने हृदय के तत्त्वों का विश्लेषण आदि भी उसके लिये एक रहस्य था। इन सब बातों की तहों तक पहुँचने जितना उसके पास अवकाश नहीं था।

घड़ी ने जैसे ही पांच बजाये, उसे प्रोग्राम में पहुँचने की बात याद हो आई। उसने झटझट फाइलें बन्द कीं और कलम इत्यादि को ड्राअर में बन्द करने का चपरासी को आदेश देकर, वह उठकर बाहर निकल आया।

वह बैंक से बाहर वाली सड़क पर आकर तेज़ी से चलने लगा। पैदल चलना था और घर दूर था। साढ़े छः बजे उसे स्कूल पहुँच जाना था। वह और तेज़ चलने लगा।.........यदि वह प्रोग्राम में उपस्थित न हो तो? क्या गीता उसकी प्रतीक्षा करेगी? हां-हां, अवश्य करेगी। यदि वह वहां नहीं पहुँचा तो गीता का दिल टूट जायगा। इसका पूर्वाभास कल ही तो उसे मिल चुका था, जब उसके असहिष्णु व्यवहार ने उसके कोमल हृदय को द्रवित कर दिया था। आखिर उसे क्या अधिकार है, अपने रूखे व्यवहार से किसी का अकारण ही दिल दुखाने का?

सहसा उसे ध्यान आया कि वह सड़क के ठीक बीच में चल रहा है। अपनी मूर्खता पर उसे खीझ हो आई। पता नहीं उसकी यह भावुकता एक दिन उसे कहां किस विपदा में डाल देगी। वह तत्काल फुटपाथ पर आ गया।

थोड़ी ही दूर चला होगा कि उसका ध्यान किसी 'एक्सीडेण्ट' की आवाज़ से आकर्षित हुआ। उसने देखा, एक खाली तांगा एक साइकिल से टकरा गया है। साइकिल दूर जा गिरी है, आगे के पहिये में बल पड़

गया है और एक लड़की ज़ोर के धक्के से दूर फेंक दी गई है। वह बिजली की रफ्तार से लपककर दुर्घटना के स्थान पर जा पहुँचा। लड़की को भय से मूर्छा आ गई थी। सीधा पैर घुटने से नीचे की ओर दूर तक छिल गया था और रक्त बह रहा था। भीड़ इकट्ठी हो गई थी। कोई क्या कह रहा था और कोई क्या। उमा ने झट-से अपना रूमाल निकालकर चोट पर बांध दिया और फिर धीरे-से लड़की को गोद में उठाकर पास खड़े तांगे में लिटा दिया।

कसूर तांगे वाले का था। उमा के पास आकर वह हाथ जोड़ने लगा—'गरीब आदमी हूँ सरकार, मारा जाऊँगा। कई दिनों की मजदूरी छिन जायगी सो अलग। मुझे बचालो, आपका बड़ा अहसान होगा।' यह कह, उसने उमा के पैर पकड़ लिये।

उमा ने झट-से अपने पैरों को खींचते हुए उसे आश्वासन भरे स्वर में कहा—'इत्मिनान रखो, तुम्हारा कुछ नहीं होगा। लेकिन आइन्दा यों अन्धे होकर तांगा न भगाया करो।'

तांगे वाला इस पर चरण पकड़ने लगा, कसमें खाने लगा।

उमा ने कहा—'अच्छा-अच्छा, अब साइकिल जल्दी से तांगे में डालो और फौरन सिविल अस्पताल ले चलो।'

तांगे वाला झट से साइकिल को तांगे में डालकर अस्पताल की तरफ उड़ चला। दर्शक बिखर गये।

उमा को अब भी ऐसा लग रहा था मानो तमाशबीन अब भी उसकी ओर खिलखिला कर हँस रहे हैं, सैकड़ों सशंकित नेत्र अब भी जैसे उसके चेहरे पर आबद्ध हैं और.........उस अविश्वास की दुनिया में उसका दम घुट रहा है क्योंकि लाखों नेत्र उसे घूर रहे हैं, कोई खिल-खिला रहा है, कोई उसकी ओर संकेत कर रहा है और कोई......उसका माथा ठनक उठा। कैसी ओछी है यह दुनिया। यहाँ किसी भले आदमी का तो निर्वाह ही नहीं। न दिलों में स्नेह है, न दया, न आत्मीयता का का भाव ही और न कोई इन्सानियत ही। उसने इस बिन्दु पर आ,

क्षोभ से अपने मुँह को अत्यन्त कड़वा बना लिया, मानो अपने अन्तर में चिर-संचित व्यथा को निगलने का उपक्रम कर रहा हो।

रह-रह कर चाबुक पड़ने से घोड़े ने मिन्टों में अस्पताल पहुँचा दिया। तांगे वाले को वहीं ठहरने को कह, उस लड़की को गोद में उठाये अस्पताल के फाटक में चला गया। बाहर बरामदे में पड़ी 'आउटडोर पेशेन्ट' की बैंच पर उसने उसे सावधानी से लिटा दिया। वह अब भी बेहोश थी।

डाक्टर ने 'एगज़ामिन' करके कम्पाउन्डर को ड्रेसिंग का आदेश दिया और इंजेक्शन लगा दिया। दवा भी 'प्रिस्क्राइब' कर दी।

जब डॉक्टर साहब जाने लगे तो उसने उत्सुक हो पूछा—'कुछ 'सीरीयस' तो नहीं डॉक्टर साहब ?'

'नहीं-नहीं, ऐसी कोई फिक्र की बात नहीं है। चोट खासी लगी है, ठीक होने में थोड़ा टाइम लेगी।' डाक्टर ने फिर हँसकर कहा—'डोंट वरी। अभी होश में आ जायगी !'

उमा ने सन्तोष की सांस ली।

कम्पाउन्डर ने बैंडेज किया और फिर किसी दवा में डूबी रुई में से थोड़ी-सी उमा को देते हुए कहा—'अब आप ज़रा इससे इनकी हथेलियों पर हल्की-हल्की मालिश कर दें।'

उमा आदेशानुसार हौले-हौले रुई को उसकी हथेलियों में फिराने लगा। छोटी हथेली। गुदाज़ और गोरी-गोरी। लम्बी-लम्बी उँगलियाँ। उसके अन्तस में सिहरन लोट गई—! केशों में से एक लट विरक्त-सी छिटक आई थी। रक्तिम कपोल, ठोड़ी पर लरजाता—सा गढ़ा। उसके हृदय का स्पन्दन और तीव्र हो उठा। उसने उधर से मुँह फेर लिया। किन्तु स्वल्प-चेतन में अब भी उसका हाथ उसी प्रकार हथेली में फिरता रहा। यन्त्र-चालित-सा।

थोड़ी देर बाद लड़की ने आँखें खोल दीं। अपने निकट एक अपरिचित युवक को बैठा देख, वह सहसा घबरा गई। अपने को यों

अस्पताल के कमरे में लेटे हुए पाकर जैसे हल्की चीख मारने को हुई किन्तु तत्काल ही उमा ने उसके सिरहाने से उठते हुए अत्यन्त स्नेहपूर्ण स्वर में कहा ·· घबराइये नहीं, अब आप स्वस्थ हैं।

जैसे वह स्मृति पर ज़ोर दे रही थी। एक-एक बात धीरे-धीरे धुन्ध की परतों से निकलकर झांकने लगी। उसे पुनः मूर्च्छना आने को हुई किन्तु उमा ने मूक भाव में हिम्मत बनाये रखने का अनुरोध-सा किया और पूर्ववत् स्नेहयुक्त स्वर में पूछा—'अब कैसा जी है ?'

'जी ·····जी, ठीक हूँ। आप·····?' विस्मित हो उसने उमा को प्रश्नसूचक दृष्टि से देखा।

'मैं······? एक इन्सान समझ लीजिये। यही पर्याप्त होगा, ऐसा मेरा अनुमान है।' मुस्कराकर उमा ने जवाब दिया।

उसने उमा को कुछ ऐसी दृष्टि से देखा, मानो उसने उसे सच ही इन्सान समझ लिया।

तो मुस्कान-सी ही कोई वस्तु अपने होठों पर ला, उमा ने प्रस्ताव रखा—'चलिये, अब आपको घर पहुँचा दूँ।'

वह यन्त्र चालित-सी उठकर बैठ गई। अपने ही बल पर उसने खड़ी होने की चेष्टा की तो उमा ने उसे सहारा देकर खड़ा कर दिया। खड़ी होते ही उसने अपने पैर में ज़ोर का दर्द अनुभव किया और फिर लंघाती-लंघाती कमरे से बाहर आ गई। उमा के कंधे का सहारा पाकर वह तांगे में बैठ गई। उमा उसके पास बैठ गया। तांगा चल पड़ा।

उमा सामने की सीधी लम्बी तारकोल की सड़क को मौन बना अपलक देख रहा था। खिचती हुई लम्बी होती चली जा रही थी। कहीं कोई घुमाव नहीं, कोई मोड़ नहीं—केवल सीधी और सपाट। अनन्त तक—अनन्त के पार तक। मानव-जीवन से कैसी भिन्न बात है।······ उमा क्षण भर के लिये खो गया।

सहसा उसके विचारों में व्यतिक्रम हुआ। वह अत्यन्त विनीत स्वर में कह रही थी—'आप ही मुझे अस्पताल ले गये थे ?'

'मैं नहीं। वह दुर्घटना।' उमा मुस्कराया।

वह लजा गई।

दोनों चुप हो गये।

थोड़ी दूर चलने पर उसने तांगे वाले से कहा—'बस, यहीं रोक दो।'

तांगा रुक गया।

उमा ने फिर से उसे सहारा देकर तांगे से उतार दिया और मकान के द्वार तक छोड़ दिया। द्वार पर जब उमा ठिठक गया तो उसने अनुरोधपूर्ण स्वर में कहा—'आइये न......।'

'जी नहीं, इस समय तो क्षमा चाहूँगा।' उमा ने आपत्ति प्रकट करते हुए कहा—'फिर कभी हाज़िर होऊँगा।'

जैसे उसका मन डूब गया हो—ऐसा भाव चेहरे पर उतर आया था। वह तनिक निकट आई और फिर लजाती हुई बोली—'क्षमा करें। मैंने अब तक आपका नाम भी नहीं पूछा।'

क्षण भर उमा सोचता-सा खड़ा रहा, फिर मुस्कराते हुये बोला—'उमाकान्त कहते हैं मुझे।' और फिर, झट से पूछा—'आपको?'

तो लजाते हुए कहा—'ईला।'

'जैसे ही उमा चलने के लिये मुड़ा, ईला ने कहा—काश, मैं आपके इस अहसान का बदला किसी तरह चुका सकती। यह मेरी गर्दन पर उधार रहेगा।'

'बस-बस ऐसा कहकर आप मुझे सिर्फ लज्जित ही कर रही हैं।' यह कह, उमा हाथ जोड़कर मुस्कराता-सा वहां से चल दिया।

कुछ देर बाद तांगा ईला के दृष्टि-पथ से ओझल हो गया।

चार

सात बज चुके थे और स्कूल अभी दूर था।

वह तांगे वाले को रह-रहकर और भी तेज़ चलने के लिये कह

रहा था। करीब साढ़े सात बजे तांगा स्कूल के सामने आकर रूका। झट से उतरकर उमा ने पांच का एक नोट ताँगे वाले को थमा दिया। तांगे वाला भोंचक्का-सा रह गया।

हॉल बिजली के प्रकाश से प्रखर था। वहां स्टेज के पास, कोने में कुछ सीटें खाली दिखाई पड़ीं। उमा एक पर जाकर बैठ गया।

कोई बारहवर्षीय बालिका अपनी नृत्य कला का प्रदर्शन कर रही थी। स्टेज के पीछे से गीता दर्शकों पर कई बार नज़र डाल चुकी थी किन्तु उसके मास्टर साहब उसे कहीं दिखाई नहीं दिये। उसके नेत्रों के सम्मुख प्रत्येक वस्तु निराशा के अन्धड़ में तैरने लगी और वह असहाय भाव से गर्दन झुकाये, आकर थकी-सी, बुझी-सी बैठ गई। वह अब नहीं आयेंगे—उसका दिल पुकार-पुकार कर उसे कह रहा था।

पास बैठी सुशी भी अपने भैया के लिये बार-बार गीता से पूछ-पूछ कर अब चुप बैठ गई थी।

अन्तिम बार गीता ने एक चांस और लिया। वह अविश्वास मे खिल उठी फिर अविश्वास तो बुझ गया, वह खिली रह गई। पास ही, कोने की एक सीट पर मास्टरजी बैठे थे। हर्षातिरेक में उसने भागकर सुशी को चूम लिया। भैया के आने का समाचार मिलते ही वह भी आनन्द से झूम उठी।

दस मिनट पश्चात्……।

हाल में अंधेरा छा गया। चारों ओर की बत्तियां बुझ गईं। एक ओर कोने से पर्दे पर हल्का नीला प्रकाश बिखरने लगा।

गीता अपना सम्पूर्ण साहस बटोर कर अपना 'पार्ट' करने स्टेज पर आ गई।

………पश्चिम में सूरज डूब रहा है। संध्या डूब रही है। दमयन्ती नल की विशाल छाती पर लेटी हुई निद्रा में मग्न है………। उमा होठों ही होठों में बुदबुदाया—गीता !'

……नल जुए में अपने भाई पुष्कर से सब कुछ हार गया है…… सब कुछ, राजपाट भी, मान भी। अब उसके पास कुछ नहीं है, कुछ

नहीं है—दमयन्ती को छोड़। और फिर यह बनवास है। दमयन्ती नल के विशाल वक्ष पर सहारा लिये निद्रा में मग्न है। स्वामी पास, फिर उसे चिन्ता कैसी ?

……अन्धेरा घिर रहा है। सूरज डूब रहा है। अन्धकार लीलने दौड़ा आ रहा है। दमयन्ती अब भी बेसुध सी सोई पड़ी है। स्वामी की छाया में उसे किसका डर ?

स्टेज पर फैलता हुआ प्रकाश अब क्षीण हो रहा है, निस्तेज हो रहा है। करुण स्वर में धीमे-धीमे वाद्य बज रहा है।

……फिर अन्धकार। सूरज डूब गया। भाग्य का सूरज भी डूब गया। सर्वत्र अन्धकार।

……दमयन्ती चौंक कर उठ बैठी है। देखती है, वह अकेली है। नल नहीं है। वह उसे छोड़ चला गया।……वह रह गई। केवल वह। जैसे एक लहर इधर से उठी, एक उधर से और दमयन्ती फंस गई भंवर में। कुछ नहीं सूझता……कुछ नहीं बन पड़ता। वह असहाय है, अकेली है। अब उसका कौन ? वह कहां जाए ?

हृदय फट पड़ता है—हा, नाथ !

……प्रकाश फिर से बिखर रहा है……फिर से बिखर रहा है…। मास्टरजी का हृदय पुकार रहा है—गीता !

हॉल तालियों की गड़गड़ाहट से गूंज उठा है।

दर्शकों की आंखें नम हैं। मास्टरजी की आंखें भी सजल हो आने को आतुर हैं।

× × × ×

लोग बिखर गये हैं, हाल रीता पड़ा है। अध्यापिकाएं और अभिनेत्रियाँ भी जा चुकी हैं। गीता और सुशी स्कूल से बाहर निकलने पर मास्टरजी का इन्तज़ार करने लगीं। पर वह दिखाई नहीं दिये। निराश हो, वह चलने लगीं।

दुकानें प्रकाश से दीप्त थीं। चौक और मोड़ पर बल्ब जल उठे थे। साइकिलों की घंटियां, तांगों की किटकिट और मोटरों के हार्न से एक विचित्र मिश्रित शोर वातावरण में फैला हुआ था।

गीता और सुशी एक दूसरे का हाथ थामे उतावली चाल से चली जा रही थीं। दूसरे हाथ में गीता ने वह पुरस्कार थाम रक्खा था, जो उसे अपने सुन्दर अभिनय पर अभी-अभी स्कूल की ओर से मिला था। उसे इस समय प्रसन्न होना चाहिये था किन्तु फिर भी वह इस समय म्लान और चिन्तित दिखाई दे रही थी। एक अज्ञात भय रहरह कर उस पर—उसके हृदय और मानस पर आसीन हो जाता था।······ मास्टरजी चले गये। आखिर क्यों चले गये ?

पता नहीं क्यों, वह मास्टरजी से इतना डरती है। इस डर का कारण क्या है ? इस डर का कारण वह स्वयं नहीं जानती। उनसे साक्षात होने और उनके सम्पर्क में आने से पूर्व वह किसी से भी डर महसूस नहीं करती थी पर अब ऐसा कुछ हो गया है कि उनकी ज़रा-सी तेज़ निगाह से ही उसका हृदय थरथरा उठता है और वह पत्ते की तरह कांपने लगती है। वह कभी भी उन्हें अप्रसन्न होता नहीं देख सकती। उन्हें प्रसन्न देख, उसे हार्दिक सुख मिलता है। इसीलिये वह सदैव प्रयत्नशील रहती है कि जाने-अनजाने में—किसी भी प्रकार उससे ऐसा कोई कार्य न हो जो उनके कहने के प्रतिकूल हो।

वह विचारों के अंधड़ में बह रही थी। क्या उसका अभिनय उन्हें अच्छा नहीं लगा ? क्या स्टेज पर आकर उसका अभिनय करना उन्हें अरूचिकर लगा है ?

जब सुशी को और अधिक मौन असह्य हो चला तो उसने उस लम्बी खामोशी को तोड़ते हुए पूछा—'क्या सोच रही हो गीता बहन ?'

'कुछ नहीं। यों ही ज़रा मास्टर साहब के बारे में ही सोच रही थी······।' म्लान हंसी लपेटते हुए गीता ने उत्तर दिया।

'क्या सोच रही थीं ?' सरल उत्सुकता से सुशी ने पूछा।

'यही कि वह उठकर एकाएक क्यों चल दिये ? हमारे लिये रुके क्यों नहीं ?'

'चले गये तो क्या हुआ ?' सुशी संक्षिप्त-सा मुस्कराई।

तुम नहीं जानतीं बहन, गीता का स्वर गम्भीर हो चला—'वह अवश्य नाराज़ होकर चले गये हैं।'

'लेकिन तुमने तो ऐसा कोई काम नहीं किया जिस पर भैया नाराज़ होंगे।' सहज, सरल प्रत्युत्तर था।

'हां, यही तो सोच रही हूँ—।' प्रतिध्वनि के समान गीता बोली। क्षणेक चुप रह, सुशी बोली—'एक बात पूछूं गीता जीजी।'

'पूछो न……'खोये-से स्वर में गीता ने जवाब दिया।

'यह उमा भैया आपको कैसे लगते हैं ?'

गीता को एक बारगी किसी हल्की रेशम की चीज़ ने जैसे छू लिया। लाज में सिमटते हुए वह किसी प्रकार बोली—'क्यों ? अच्छे ही तो लगेंगे—और कैसे लगेंगे भला ?'

'तो एक बात करो। शादी कर लो उनसे। तुम्हें भाभी कहकर पुकारने को मेरा जी बहुत करता है। सच।' एक ही सांस में मानों वह सब कुछर उलींच गई—जो हृदय में अब तक संचित था। कुछ भी अपने पास बचाकर नहीं रखा।

गीता के कपोलों पर असंख्य कलियां जैसे शर्माकर लेट गईं। फिर दूसरे ही क्षण वह सुशी के कृत्रिम भोलेपन पर खिलखिला पड़ी। और तुरन्त बाद ही वह लज्जा की लाली और नारीत्व की निर्मल ज्योति में जैसे नहा उठी। उसे लगा जैसे असीम सुख की एक आकुल सिहरन उसकी समस्त देह में पेवस्त हो गई है।……

गीता को चुप देख, सुशी ने अपना प्रश्न फिर से दोहराया—'बोलो न, करोगी शादी ?'

अपना पीछा छुड़ाने और सुशी का मन रखने को उसने कहा—'मेरे चाहने से क्या होता है बहन ? कभी उनसे भी पूछा है तुमने ?'

'तो आज ही पूछती हूँ भैया से। घर पहुँचते ही पूछती हूँ सब बात।' संकल्प भरे स्वर में सुशी ने कहा।

गीता एकदम घबरा गई। झट से सुशी के मुंह पर हाथ रखते हुए मानो उसने बरजा—'नहीं-नहीं सुशी, तुम्हें मेरी कसम है जो उनसे कुछ भी कहा तुमने…… !'

आखें नचाते हुए सुशी बोली—'क्यों, मैं तो कहूँगी बस। अभी कहती हूं जाकर, देख लेना।'

हे भगवान, अब क्या होगा ?······

घर आ गया रेलिंग पकड़े गीता ऊपर चढ़ने लगी। उसने अन्तिम बार सुशी की फिर से खुशामद की—'तुम्हें मेरे सिर की सौगन्ध, जो कुछ भी कहा तुमने······मेरी अच्छी बहन हो न, वरना देखना, मैं कभी तुमसे मुंह से नहीं बोलूंगी।'

सुशी ने मुस्करा कर हामी भर ली।

गीता को मानो किनारा मिला हो।

उमा छत पर लेटा हुआ सुशी की राह देख रहा था। ड्रामा समाप्त होते ही वह सीधा घर चला आया था। घर आने पर उसे महरी से मालूम हुआ कि सुशी गीता के संग स्कूल गई हुई है। वह उसके आने की प्रतीक्षा करते हुए लेटा था।

कुछ देर बाद सुशी फुदक कर उसके पलंग पर आ बैठी।

और उसने देखा कि पास ही, सिरहाने की ओर गर्दन झुकाये गीता खड़ी है।

तो फिर कहा हंसकर—'आज तुम्हारा अभिनय वास्तव में बड़ा सुन्दर रहा। सच, मुझे तुमसे ऐसी ही आशा थी। मेरी ओर से तुम्हें बधाई।'

तो गीता के गालों में एकदम लाली खिंच आई। उसका हृदय खिल उठा और सुख के उस चरम वेग में उसका वहां और अधिक ठहरना दूभर हो गया।

'भैया, इन्हें पहला इनाम भी मिला है।' सुशी ने खुशी में योग देते हुए कहा—'और एक बात और है भैया—'

इतना ही वह बोल पाई थी कि गीता उसे खींचती हुई वहां से भाग छूटी।

उमा मुस्कराता हुआ दोनों को देखता रहा।

पाँच

हिस्ट्री का पांचवा पीरियड ओवर होते ही ज़ोर की वर्षा आरम्भ हो गई। छठा पीरियड वेकेन्ट था क्योंकि मिसेज़ प्रकाश आई नहीं थीं। सो गीता और चन्द्रमुखी लाइब्रेरी में से होती हुई बरामदे में पड़ी बैंच पर आकर बैठ गईं।

पानी बड़े वेग से गिर रहा था। वह कालेज गार्डन और बाहर की सड़कों का दृश्य देखने लगीं। चारों ओर चांदी के तार ही तार बिछे हुए दिखाई दे रहे थे। लोग भाग भागकर दुकानों में, होटलों तथा टीन की छतों के नीचे और घरों के दरवाज़ों में बचाव के लिये खड़े थे। चारों ओर छाते, रेनकोट, सरपट भागती साइकिलें और पानी उछालती कारें। बरसता हुआ पानी, उमड़ते-घुमड़ते बादल, रह-रहकर गर्जन-जैसे सामान से लदे जहाज़ हज़ारों टन पानी से टकरा रहे हों। कभी-कभी आकाश का कोई कोना भक् से जल उठता था।

रह-रह कर हल्की फुहारें गीता और चन्द्रमुखी की देह को हौले से छू जाती थीं और उनके भीतर सिहरन लोट जाती थी। कुछ-एक पानी की बूंदें उनकी जुल्फों में आकर टिक गई थीं और उनके अरुण कपोलों को छू-छूकर उन्मत्त हो उठी थीं।

चन्द्रमुखी शहर के प्रतिष्ठित बैरिस्टर घनश्यामदास की लड़की थी वह स्वस्थ वातावरण में पली थी और सौभाग्य से अच्छे संस्कारों को लेकर पल्लवित हुई थी, बढ़ी थी। 'रूप' स्वास्थ्य और गुण तीनों का उसमें अपूर्व समन्वय था। घर में पर्दा-प्रचार, सामाजिक रूढ़ियां और कुरीतियां इत्यादि नहीं थीं। उसके एक भाई था—निरंजन कुमार। एम. ए. फाइनल में। निरंजन बड़ा ही हंसमुख और सुशील लड़का था। भाई-बहन दोनों पर ही माता-पिता का बड़ा स्नेह था। जब चन्द्रमुखी

ने मैट्रिक पास किया तो उसने ज़िद करली कि वह भी पढ़ने के मामले में अपने भैया से किसी तरह भी पीछे नहीं रहेगी। बैरिस्टर साहब अपनी मर्यादा में समाज सुधारक भी थे। इसीलिये शिक्षा के मामले में अपनी लड़की के अनुनय-विनय को टाला नहीं। पैसे की कमी थी नहीं। जब कालेज खुला तो चन्द्रमुखी को हंसते हंसते भेज दिया गया। यहां कालेज में आकर उसका परिचय गीता से हुआ और यह संक्षिप्त परिचय अल्प समय में ही एक घनिष्ठ मैत्री में परिणत हो गया। यही नहीं, चन्द्रमुखी गीता की सहपाठी के अतिरिक्त सजातीय भी थी। वय में दोनों में कोई विशेष अन्तर न था।

गीता दार्शनिक के मष्तिष्क की तरह दुर्बोध और जटिल थी। ऐसी संजीदा-जैसे किसी ने विक्टोरिया बाग में महारानी विक्टोरिया का बुत लगा दिया हो। हंसी के बड़े से बड़े अवसर पर भी वह कभी ज़ोर से नहीं हँसी। विनोद के असहनीय अवसर पर एक हल्की-सी मुस्कान उसके होठों पर बड़ी कठिनाई से खिंच पाती थी और वह भी इतनी शीघ्र विलीन हो जाती थी, जैसे खामोश पानी में कंकर फेंकने के पश्चात् लहर उठकर विलीन हो जाए।

ठीक उसके विपरीत थी चन्द्रमुखी। शोख़ और चंचल, जैसे किसी ने फुलझड़ी छोड़ रखी हो। जब वह आँगन में से गुज़रती है, तो यों लगता है जैसे वायुमण्डल में बहुत ही कर्णप्रिय संगीत बिखर रहा हो। जैसे चांदनी खिल उठी हो। शीतकाल में बिछलती तर-तेज़ धूप के समान!

दोनों की प्रकृति में परस्पर भिन्नता होते हुये भी दोनों में कभी मनोमालिन्य का अवसर नहीं आया। इस पर लोगों को कौतुक होता था।

अभी भी मूसलाधार वर्षा हो रही थी। रुकती ही न थी। सड़कों पर घुटनों-घुटनों पानी बह रहा था। छतों पर से परनाले गिर रहे थे। भीमकाय काले बरसाती बादल दिल में आतंक-सा पैदा कर रहे थे। इधर गीता के दिल में रह-रह कर घर पहुँचने का विचार उठ रहा था।

कभी आकाश को देखने लगती, कभी उठकर निराश टहलने लगती और कभी असहाय सी बैठ जाती।

अब सुशी भी आ पहुँची थी। कॉलेज बन्द हो चुका था और लड़कियाँ स्कूल में इधर-उधर खड़ी, वर्षा थमने का इन्तज़ार कर रही थीं।

अधीर हो गीता बोली—'बारिश का ज़ोर तो टूटता नहीं दिख रहा। न जाने कब खुलेगा अब ?'

'यह आज नहीं खुलेगा। इसका सगा मर गया है।' गम्भीर हो, चन्द्रमुखी ने कहा।

गीता ही नहीं, पास खड़ी लड़कियाँ हँस पड़ीं।

'अब घर कैसे पहुँचेंगे ?' हँसी को रोक कर गीता ने कहा।

'गीता, हम बतायें तुम्हें। लेकिन वादा करो कि बुरा न मानोगी और थोड़ी देर के लिए अपनी इस चिरप्रिय संजीदगी को ताक में रख दोगी। बोलो, वादा करती हो ?' चन्द्रमुखी ने कहा।

'फिर वही मज़ाक ?' गीता ने कृत्रिम रोष से चन्द्रमुखी की ओर देखा।

'मज़ाक की क्या बात है ? तुम सुनती तो हो ही नहीं।'

'हाँ कहो, क्या कहना चाहती हो ?'

'देखो बहन मेरी, सामने सड़क पर तीन-तीन फीट गहरा पानी बह रहा है। और उसका रुख भी हमारे घरों की ओर है ! आओ, हम पानी में कूद पड़ें। बह कर अभी-अभी घर पहुँच जायेंगे। पानी की रफ़्तार ताँगे और मोटर से भी तेज़ होती है—यह बताना फ़िज़ूल होगा।'

गीता कुछ हँसी, फिर बात का पहलू बदलते हुए बोली—हम ज़िन्दगी से बेज़ार थोड़े ही हैं। इस गन्दे रेले में तुम्ही बहो चन्द्रमुखी !'

'यह गन्दा रेला है ? तुम इसे गन्दा रेला कहती हो ?' चन्द्रमुखी ने आश्चर्य से गीता को देखा, फिर हँसती हुई बोली—'शायद तुम ठीक ही कहती हो। इन्द्र को भी आज कुछ ऐसा ही मज़ाक सूझा है।'

'अच्छा तो अब तुमने देवताओं को भी मज़ाक में लपेटना शुरू कर दिया ?' ज़रा तेवर बदल कर गीता ने कहा ।

'हाय राम ! मैं और देवताओं से मजाक करूं ? मेरी क्या मज़ाल ? तुम्हारे अपने भी तो कोई देवता होंगे ही.........' कान पकड़ते हुए चन्द्रमुखी ने कहा ।

'आजकल साहित्य का ज्ञान ज़रा बढ़ा हुआ देखती हूं चन्द्रमुखी !' इस पर दोनों हंस पड़ीं ।

तत्काल ही एक कार कॉलेज के पोर्टिको में आकर रुकी । चन्द्रमुखी के भैया निरंजन कुमार थे ।

गीता ने नमस्ते की । निरंजन गीता को देख खिल उठा । गीता ने साथ चलने के लिए 'ना-नू' की, पर चन्द्रमुखी कब छोड़ने वाली थी ? उसे हारकर सुशी के साथ पीछे वाली सीट पर बैठ जाना पड़ा । मोटर चल दी ।

कुछ देर बाद मोटर घर पर आकर रुक गई । चन्द्रमुखी ने गीता और सुशी को ड्राइंग रूम में लाकर बिठा दिया । वह वही कमरा था, जहां इससे पहले निरंजन दो-तीन बार गीता को देख चुका था ।

बाहर, वर्षा का वेग अब उतना तो न था पर इतनी कम भी न हुई थी । थोड़ी ही देर बाद वहाँ गर्म-गर्म मौसम के अनुकूल चीज़ें खाने पर आ गई थीं ।

गहरे-गहरे बादल खिड़की से नज़र आ रहे थे और रह-रह कर ठंडी-ठण्डी हवायें दरवाज़े पर टंके पर्दों से छेड़-छाड़ कर जाती थीं ।

नौकर आया और मेज़ पर पपड़ियां, गर्म-गर्म पकोड़े, गर्म-गर्म समोसे, तले हुए पापड़ इत्यादि चुन गया । ऐसा लग रहा था, जैसे जंगल में किसी रोमांटिक दिन कोई पिकनिक हो रही हो और वे लोग वर्षा से बचने के लिए किसी बहुत ही सुन्दर उद्यान में, किसी समर-हट के नीचे बैठे, गर्म-गर्म खानों का आनन्द ले रहे हों ।

तीसरे दौर में नौकर फ्रूटडिशेज़ रख गया। जलते हुए मुंह फलों की मिठास से साफ हो गये।

इतने में निरंजन दनदनाता हुआ कमरे में दाखिल हुआ और आक्रोश में भरा बोला—'तुम बड़ी बदतमीज़ हो चन्द्रमुखी, यह क्या तरीका है? मेहमानों को कुछ खिलाया भी नहीं तुमने?'

'अब तुम्हीं खिला देखो भैया तुम्हारे ही हाथ से खायेंगी ये।' उसी टोन में जवाब दिया चन्द्रमुखी ने।

गीता विवर्ण हो उठी। सुशी ने पहले चन्द्रमुखी की ओर ताका और फिर असहाय-सी बैठी गीता की ओर।

'देखो, यह बड़े यहीं रखे रह गये—पता नहीं, तुम्हें कब अक्ल आयेगी।' कुछ मुस्कराते और कुछ कृत्रिम रोष दर्शाते हुए निरंजन कुमार ने प्लेट में रखे बड़े गीता के सम्मुख रख दिये।

गीता ने निरंजन की उपस्थिति में कुछ खाने में संकोच प्रकट किया। बात को ताड़ते ही निरंजन हँसता हुआ कमरे से बाहर चला गया। उसके पीछे-पीछे ही चन्द्रमुखी उठकर चल दी।

सुशी और गीता ने एक-एक बड़ा ही मुंह में रखा था कि मुंह और गला पकड़ कर बैठ गई। मज़ाक हो तो ऐसा। बड़ों में हरी मिर्चें कूट-कूट कर भरी हुई थीं। मिर्चों की तेज़ी दिमाग पर चढ़ गई और नाक और आँखों से पानी बहने लगा।

कुछ ही देर बाद निरंजन अत्यन्त गम्भीर बना हुआ कमरे में आया। सुशी के चेहरे पर चंचलता थी किन्तु गीता इस मज़ाक के उपरान्त भी गम्भीर ही रही। हाँ, उसने हौले से इतनी बात अवश्य कही - 'आपकी दावत के लिए अनेक-अनेक धन्यवाद।'

निरंजन ने हँसते हुए कहा—'धन्यवाद दीजिये अपनी सहेली को। दावत उसने दी है।'

गीता कुछ नहीं बोली। मौन ही रही।

जब जब वह निरंजन के सम्मुख पड़ती है, एक अज्ञात जड़ता-सी उसमें भर जाती है और एक विचित्र-सा मौन उसे बूर देता है। एक अविदित भावी शंका से उसका मन काँप-काँप जाता है। बहुत दिनों पूर्व, जब उसने प्रथम बार इस हँसमुख निरंजन के नेत्रों में झाँका था तो जो कुछ भी उसके नेत्रों में उसने अंकित पाया, उसके दर्शन और स्मृति मात्र से ही थोडी बहुत अनमनी-सी और सशंकित होकर रह गई। जो कुछ उसने आँखों में देखा, उसे उसने शीघ्र पढ़ लिया था। तभी से वह उससे आँखें चुराती आ रही थी और जब-जब उसे निरंजन की ओर देखने का अवसर आया अथवा परिस्थितियाँ उसे उसकी ओर देखने को विवश करती हैं तो न जाने वह कैसा अनुभव करने लगती है। निरंजन की बड़ी-बड़ी उदास आँखों में—प्यासी आँखों में वह सदा एक मूक निमंत्रण का आभास पाती है। पुतलियों में जो गहराइयाँ है—वे अथाह हैं–जिनमें डूब जाने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं रह जाता।

इसीलिए पास खड़े निरंजन की ओर उसने दुबारा नहीं देखा। गर्दन झुकाये, वह मौन बैठी रही।

कुछ देर कमरे में निस्तब्धता छाई रही। आखिर निरंजन बोला—'बारिश के कारण आज आपको काफ़ी असुविधा रही ?'

बात के ढंग से स्पष्ट था कि उत्तर की अपेक्षा है।

गीता अपने ही में सिमटती हुई सम्भल-सम्भल कर बोली—'जी, मौसम ही बारिश का है। किया भी क्या जाए ?'

दोनों फिर चुप हो गये। निरंजन ढूंढ रहा था कोई ऐसा प्रसंग, जिस पर बातचीत की जाए और गीता ढूंढ रही थी कोई ऐसी युक्ति, जिससे वह उससे मुक्त हो सके।

और कुछ कहने को नहीं मिला तो निरंजन ने वैसे ही पूछ लिया—'इस साल तो आशा है, फ़र्स्टक्लास आ जायेगा आपके ?'

प्रश्न और उत्तर दोनों को एकाकार कर दिया था उसने। संक्षिप्त-सी हँसी के साथ बोली वह—'देखिये·······कोशिश हमारा काम है।'

दोनों फिर चुप हो गये। फिर वही निस्तब्धता।

तभी घड़ी ने पाँच बजाये। गीता चौंक पड़ी। धीरे से बोली–'अब चलूंगी। चन्द्रमुखी को ज़रा बुला दीजिये।'

चलने की बात सुनकर निरंजन अन्यमनस्क हो गया है—यह गीता ने स्पष्ट लक्ष किया।

अवरुद्ध कण्ठ से बडे ही भीगे स्वर में वह बोला—'क्या जाना तुम्हें इतना प्रिय लगता है गीता?'

गीता को लगा जैसे वह हाँफ उठी है। संक्षिप्त-से थरथराते स्वर में बोली—'जी, माँ राह देखती होंगी।'

'ओ—! ठीक है, ठीक है।' वह खोये से स्वर में इतना ही बोल पाया और गीता ने आँखों के कोनों से देखा कि अन्तस की कोई घनीभूत पीड़ा अधरों पर आकर फैल गई है और वह उस पीड़ा को लिए कमरे से बाहर हो गया।

वह हतप्रभ-सी द्वार की ओर देखती रही।

कुछ देर बाद ही चन्द्रमुखी हंसती हुई भीतर आई और बोली—'क्षमा करना, मुझे आने में कुछ देर हुई। चलो, तुम्हें नीचे मा बुला रही हैं।'

तीनों उठकर चल पड़ीं।

जिस समय गीता आई थी, चन्द्रमुखी की अम्मा पूजा में व्यस्त थीं। गीता को देखते ही स्नेह किन्तु उलाहनेपूर्ण स्वर में उन्होंने कहा—'आओ-आओ, गीता बेटी। बहुत दिनों में दिखाई दीं। क्या हमसे खफा हो?'

गीता ने बढ़कर उनके पैर छुए। माँ ने स्नेह और आशीर्वाद का हाथ फेर कर उसे उठा लिया और बोलीं—'मैं तो भई अक्सर तुम्हें याद कर लेती हूँ। अभी कुछ ही दिन हुए, मैंने इससे तुम्हारी बाबत पूछा था—क्या बात है—चन्द्रो, काफी दिनों से गीता नहीं दिखी? तुम दोनों में कुछ अनबन तो नहीं हो गई?'

गीता हंसते हुए बोली—'जी नहीं, हममें क्यों अनबन होने लगी ? वो तो—परीक्षा सिर पर है न—इसीसे ।' बात बनाई उसने ।

'हाँ-हाँ बेटी, पढ़ाई का फिक्र ज़रूरी है ।' फिर कुछ रुक कर बोली—'यह हमारी चन्द्रो भी पास-वास तो हो जाएगी न ? पढ़ाई तो रत्ती भर भी नहीं करती । भगवान ही रक्षक हैं । देखो ।'

'मैं तो एक बात जानती हूँ मां—' बीच ही में तुनक कर चन्द्रा बोली—'गीता चाहे कितनी ही पढ़ाई कर ले, नम्बर मेरे ही ज़्यादा आवेंगे । देख लेना ।'

गीता केवल हंसती रही ।

'अरी, रहने भी दे—' माँ ने मीठे ढङ्ग से चन्द्रमुखी को झिड़कते हुए कहा—'ज़्यादा बड़े वोल नहीं बोला करते ।' फिर गीता से कहा—'क्यों बेटी, जा रही हो ? बैठोगी नहीं ? खाना खाकर चली जातीं ।'

गीता ने विवशता प्रकट करते हुए कहा—'अब तो चलूंगी अम्मा जी, फिर कभी आऊँगी । माँ चिन्ता करती होंगी ।'

'अच्छी बात बेटी जरूर आना । दुबारा आओ तो माँ को साथ जरूर लेकर आना । समझीं ?'

'जी ।'

'निरंजन । अरे निरंजन ।' चन्द्रमुखी की माताजी ने हल्की पुकार मचाई ।

निरंजन आया तो माँ ने कहा—'इन्हें कार में घर छोड़ आ बेटे । बारिश भी है और अंधेरा भी !'

गीता अब क्या बोले ? निरुपाय-सी सुशी को साथ ले, वहां से चल दी, अम्मा के पैर पुनः छूकर ।

और जाते समय चन्द्रा की अम्मा ने देखा गीता को—वह जा रही थी रूप-राशि की अद्‌भुत छटा बिखेरती ! किसी कुशल शिल्पी की बनाई हुई सुन्दर प्रतिमा की तरह । उसके पास-पास चलता हुआ निरंजन ।

हृदय की आकांक्षा-सा सुरुचिपूर्ण। कैसी सुन्दर जोड़ी है—। बात जैसे जाकर, जमकर, चन्द्रा की मां के हृदय में बैठ गई। वह देखती रही गीता को, निरंजन को। निरंजन को और गीता को।

सहसा बाहर किसी बात पर एक बेसाख्ता कहकहा लगा और फिर मोटर स्टार्ट होने की आवाज़ आई।

× × × ×

'गराज' में मोटर को खड़ी कर, निरंजन झूमता हुआ—सा और गुनगुनाता हुआ घर में घुसा।

मां ने टोका—'अरे निरंजन।'

'जी' 'हंसता हुआ निरंजन मां के सम्मुख आ खड़ा हुआ। एक बार मां ने गौर से निरजन के खिले हुए चेहरे की ओर देखा और फिर कहा—' छोड़ आया उसे ?'

'जी।'

फिर हंसकर मां ने कहा—'आज तो बहुत खुश दीख रहा है रे। ऐसी क्या बात है ?'

'कुछ भी तो नहीं मां।' जैसे निरंजन उड़ रहा हो।

'है तो कुछ। क्या हमें नहीं बतायेगा ?'

'कुछ हो तो बताऊं भी मां।'

तो मां ने मीठी चुटकी भरी—'गीता को हमेशा के लिये बुला लें अपने घर में ?'

'मैं क्या जानू मां।' झट से कह, अधरों पर स्मित हास्य लिये हुए वह मां के सामने से भाग छूटा।

मां विचित्र-सी खुशी में नहाई खड़ी देखती रहीं उसे।

छः

जब उमा ने ज़ोर देकर पूछा तो सुशी को देर से लौटने का कारण

बताना ही पड़ा । बोली—'वह जो हैं न भैया—चन्द्रमुखी, गीता बहन की सहेली, वही हमें घसीट कर ले गईं थीं अपने घर । वहां खूब हमारी दावत की और फिर चन्द्रमुखी के भैया ही हमें यहां घर तक कार में छोड़ने आये । हम तो कभी के आ गये थे पर बारिश रुक ही नहीं रही थी । सच भैया, बड़े अच्छे लोग हैं वे । चन्द्रमुखी भी, उनकी माता जी भी और चन्द्रमुखी के भैया निरंजन कुमार भी ।.........और हां भैया, एक मज़ेदार बात तो बताना मैं आपको भूल ही गई । दावत में मिर्चों से भरे वो बड़े खिलाये हमें—वो बड़े खिलाये कि सच, उम्र भर याद रहेंगे मुझे और गीता बहन को.........'

'बकवास बन्द कर—बड़ों की बच्ची !' बीच ही में गरजते हुए उमा बोला ।

सुशी सहम उठी । उसके विस्मय से होठ यों पृथक हो गये, मानो अब फिर कभी न मिलेंगे । वह हतप्रभ-सी अपने भैया का मुंह ताकती रह गई ।

वह समझ गई थी कि भैया को बुरा लग गया है । पर क्या बुरा लगा है. क्यों बुरा लगा है—उसकी कच्ची बुद्धि में नहीं आ पा रहा था । वह प्रथम अवसर था, जब भैया ने उसे इस तरह फटकारा था और वह भी कारण को गोपनीय रखते हुए । मां के मरने के बाद तो वह विशेषतया : भैया की आंखों का तारा बन गई थी । कभी भी उन्होंने उससे सख्त आवाज़ में कोई बात न की थी । बोलना तो दूर—कभी उसे तेज़ निगाहों से देखा तक न था । पर आज.........। उसका नन्हा हृदय इस आघात से चुपचाप ज़ख्मी हो गया । सजल नेत्र लिये, वह स्तम्भित-सी उठ कर दूसरी ओर चली गई ।

बहुत देर तक स्वप्निल-सी अवस्था में, अचेतन-सा, मुंह नीचा किये बैठा रहा उमा । मन में कुछ उठ और गिर रहा था । चन्द्रमुखी, उसके भैया निरंजन कुमार, गीता । अच्छे लोग ।

तभी झनाक् सा हुआ मन में । उसने सुशी को आज घुड़का है ? क्यों घुड़का आखिर ? उसका दोष ही क्या था ? अकारण ही वह क्यों

ऐसा असहिष्णु बन गया ? उसका अन्तर्मन उसे प्रताड़ित करने लगा। एक भारी बोझ दिल पर लिये, वह चुपचाप उठा और फिर सुशी के पास पहुँचा। वह घुटनों के बीच मुंह छिपाये धीरे-धीरे सुबक रही थी। उसने अपराधी के से कांपते हाथों से पहले सुशी के बालों को छुआ और फिर विगलित कण्ठ स्वर से पुकारा—'सुशी, उठ सुशी। मुझ से दोष हुआ बहन.........।'

और सुशी आंसुओं के भीतर से हंस पड़ी।

वह पुनः पूर्ववत् स्थान पर आकर बैठ गया—प्रकृतिस्थ सा।

धीरे-धीरे फिर कुछ चक्कर सा लगाने लगा दिल में। ऊपर-नीचे, नीचे-ऊपर। फिर वही धुंआ-सा उठने लगा।.........

गीता ने उठ कर 'नमस्ते' की तो वह यथार्थ में आया। दृष्टि ऊपर उठाकर उसने देखा—दो हाथ जुड़े थे।

वह केवल म्लान हंसी में प्रत्युत्तर दे सका।

भाव से स्पष्ट था कि मास्टर जी खिन्न हैं। अतः धंसे मन से, सिर नीचा किये उसने किताब खोलली।

उमा ने यंत्र चालित अवस्था में किताब उठाई और उसके पन्ने पलटने लगा। फिर बोला—'कल क्यों नहीं आईं ?'

धीमे से बताया—'चन्द्रमुखी के यहां चली गई थी !'

'तो क्या हुआ ?'

धड़कते दिल से कहा—'मैं क्षमा चाहती हूँ।'

उमा के पास अब शेष कुछ नहीं रहा। मूक अवस्था में वह पन्ने पलटता रहा। कुछ प्रश्न चिह्न फिर उभरे और जल्दी-जल्दी उन पन्नों के साथ उलटते-पलटते रहे 'खड़-खड़—खड़-खड़'। पन्नों के साथ-साथ। पर वह चुप ही रहा।

सिर को झटका दे. वह बोला—'समाज का पतित अङ्ग—इस विषय पर तुम्हारे अपने क्या विचार हैं ?'

गीता चुप रही।

तो फिर कहा— 'बोलो, चुप क्यों हो ?'

गीता ने हौले से कह दिया—'मुझे नहीं मालूम ।'

उमा का स्वर तेज़ हो गया—'क्यों, मालूम क्यों नहीं ? दो दिन पहले ही तो मैंने बताया था ।'

'जी ।'

'फिर बोलती क्यों नहीं ?'

'मुझे याद नहीं रहा ।'

उमा का स्वर और तेज़ हो गया—'याद नहीं रहा तो क्या यह मेरा दोष है ?'

गीता की आंखें उमा के चेहरे पर फैल-फैल गईं—'मेरा दोष है, मेरा ।'

'परीक्षा के लिये ऐसी ही तैयारी कर रही हो ?' उसका स्वर और भड़क उठा था ।

गीता केवल शून्य आँखों से देखती रही अपने नीचे बिछी दरी को । उसे निरुत्तर पा, उमा का चेहरा तमतमा उठा—'ऐसी परिस्थिति में मैं तुम्हें पढ़ाने के लिये हरगिज, तैयार नहीं । तुम जाओ ।'

गीता कांप उठी । उसके भीतर का विषाद अब फैल-फैल गया ।

'सुना नहीं तुमने ?' उमा फिर से झल्ला कर बोला—'मैं कह रहा हूँ, तुम जाओ । मैं नहीं पढ़ा सकता तुम्हें ।'

गीता तिलमिला उठी । आंखें नम हो आईं । एक ठोकर खाये व्यक्ति की भांति वह कुछ सभली, कुछ रुकी, और फिर सिर नीचा किये कमरे से बाहर हो गई ।

यह सब ऐसे हो गया, जैसे सिर पर से कोई आंधी गुज़र जाये या कोई पलीता भक् से जल उठे ।

उमा सुलगता-सा बैठा था । संध्या के दीपक जल चुके थे, पर वह सिगरेट पर सिगरेट फूंकता वैसे ही बैठा था । ताज़ा सिगरेट दो-चार

कश और बस, अवशिष्ट भाग को फेंक दिया जाता। यही क्रम। नई-नई जलती हुई सिगरेटों के अनुरूप वह भी नए-नए सिरे से जलता रहा। जैसे अंधेरे कमरे में धुंआ फैला था, ठीक वैसा ही धुंआ छा गया था उसके अन्तर में।

जब खाना पक गया तो महरी ने आकर सूचना दी—'खाना तैयार है बाबू, उठिये।'

तो उमा ने कह दिया—'मुझे भूख नहीं है केसर की माँ। मैं नहीं खाऊंगा।' वह हतप्रभ-सी लौट गई।

कुछ देर बाद वह फिर आई। उमा को उदास देखा, तो स्नेहयुक्त स्वर में पूछा—'क्या बात है बाबू, खाना नहीं खायेंगे ? कुछ दुख रहा है क्या ?'

उदास हंसी के साथ उमा बोला—'यह बात नहीं। आज मुझे कुछ भूख ही नहीं है। तुम जाओ केसर की माँ। सुशी को खिलादो।'

अविश्वास का-सा भाव लिये वह अब भी खड़ी रही। फिर एक बार उसने पूछा—'कुछ दुख रहा हो तो दबा दूं ?'

उमा ने 'ना' करदी।

वह हतबुद्धि-सी जाने लगी, पर कुछ रुक कर बोली—'चाय तो पीयेंगे आप ?'

उमा कुछ नहीं बोला।

केसर की माँ ने झट से अंगीठी पर पानी चढा दिया।

चाय आई तो वह चाय पीकर बिस्तर पर लेट गया।

सुशी चुपचाप खाना खाकर पास के बिस्तर पर लेट गई।

आकाश की झोली में आ पड़े थे दो-चार तारे। कभी उसकी आँखें फैल जातीं—विस्तृत नभ पर। उन्हीं तारों को बिन्दु मानकर वह देर गये तक उलझा रहा—किसी रेखा गणित में और करवटें बदलता रहा।

और उधर—इन्हीं दो-चार तारों में अटकी हुई थी गीता की सजल

आँखें........। यह अल्प परिचय, इसकी मंज़िल कहाँ है ? किन दिशाओं की ओर वह बढ रही है ? किस पथ पर ?

यह कैसा सम्मोहन है ? अजगर की श्वांस में खिंचे मृग के समान ? विरक्ति और असहिष्णुता के प्रति उसका यह आकर्षण कहाँ जाकर टकरायेगा ? कहाँ ?

अब तक वह अपने ही में सन्तुष्ट थी, लिप्त और लीन थी। वह मास्टरजी से कुछ देर बातें करके ही सन्तुष्ट थी। इससे अधिक की न कल्पना की थी उसने, और न अपेक्षा ही। इसे ही वह सौभाग्य की संज्ञा समझती आई थी किन्तु आज तो उतना भर भी छिन गया था—नहीं-नहीं, छीन लिया गया था—उन्हीं के द्वारा।

देर तक आँसू अविराम गति से तकिये पर गिरते रहे।

सात

दो दिन हो गये किन्तु गीता पढ़ने नहीं आई।

माँ ने पूछा तो कह दिया—उसका जी अच्छा नहीं है।

चन्द्रमुखी ने पूछा—'उदास-उदास क्यों हो ?'

तो कह दिया—'सिर में दर्द रहता है।'

सुशी ने पूछा—'आजकल गुमसुम-सी क्यों रहती हो जीजी ? भैया के पास पढ़ने भी नहीं आतीं ?'

तो कह दिया—'तबियत खराब रहती है।'

सबका—उसकी अपनी समझ में समाधान हो गया। उसने छुट्टी पाई।

और इन्हीं दो दिनों में उमा ने न ठीक से खाया और न ठीक से पहना ही। सुबह, समय से पूर्व ही वह बैंक के लिए चल देता। वहाँ कितना ही अपने को काम में भुलाने की चेष्टा करता पर अपने को

असमर्थ पाता। दिन भर चुप रहकर किसी प्रकार पाँच बजाता और घर लौट आता। घर पर फिर वही—न सुशी से कोई विशेष बातचीत। न महरी से हंस कर बोलना। रह-रह कर सुशी की कच्ची बुद्धि इस अल्प समय में हुए अपने भैया और गीता जीजी के पारस्परिक परिवर्तन की उत्पत्ति को खोजने का प्रयास करती किन्तु उसे कोई थाह न मिलती। न तो उसे अपने भैया की उस विचित्र प्रकृति का ही स्रोत पता लगता था और न गीता जीजी का कोई ऐसा बड़ा कसूर ही, जिस पर उसके भैया उस पर इतना बिगड़ बैठे थे।

जब गीता तीसरे दिन भी पढ़ने नहीं आई तो उसे पूर्ण विश्वास हो गया कि वह अब कभी नहीं आयेगी। उसे अकारण ही क्रोध हो आया। पता नहीं, यह क्रोध उसका स्वयं पर था, अथवा गीता पर, अथवा इस सम्पूर्ण संसार पर !

वह बिना खाना खाये ही, पैरों में चप्पल डाल कर, घर से बाहर निकल गया और सड़क पर उत्तेजित-सा चलने लगा। वह बस, पैरों की प्रेरणा पर चलता रहा। आत्मविस्मृत सा। वह किसी ऐसे स्थल पर पहुंच जाना चाहता था, जहाँ उसके भीतर की सारी जलन और व्यथा डूब जाये।

पर उसके भीतर का संघर्ष पैरों की गति के साथ तीव्रतर होता जा रहा था और उसका स्वयं का वह गीता के प्रति रुक्ष और निष्ठुर व्यवहार, जिसका उसे लेशमात्र भी अधिकार नहीं था, उसकी खिल्लियाँ उड़ाता हुआ उसका बुरी तरह पीछा कर रहा था। किन्तु तर्क उसे 'एप्लाड' कर रहा था—दोष गीता का है। उसकी बताई हुई बातों को यदि वह इस आसानी से भूल जाती है तो एक प्रकार से यह तो उसका उपहास हुआ, उसके सारे परिश्रम का उपहास है। यदि परिणाम अच्छा न निकला तो सारी ज़िम्मेदारी आखिर किस पर आयेगी ?······ पर वह इसी बात को ढंग से भी तो कह और समझा सकता था। पर कहाँ किया उसने ऐसा ? एक ऐसा व्यवहार अलबत्ता किया है उसने, जिससे गीता के दिल पर खरौंचें पड़ गईं। और अब वह उसकी प्रतीक्षा

करता है, छटपटाता है ? आखिर क्यों ? इतने अपमान के बाद क्या वह आयेगी अब ?·········ठीक है, नहीं आती है, तो न आओ। पर वह यह आशा नहीं रख सकती कि वह उसके पास जाए और उससे क्षमा मांगे···· ·······।

सहसा उसके विचारों में व्यतिक्रम हुआ। कोई उसे पुकार रहा था। उसने इधर-उधर देखा।

'कौन ?' उसका प्रश्न सुनसान सड़क पर अंधेरे में डूब गया। मुस्कराती-सी कोई छाया अंधकार के गर्त में से निकल कर उसके समीप आई और हंस कर हाथ जोड़ दिया।

उमा हैरान-सा उसे देखे जा रहा था। धीरे-धीरे उसे लगा, जैसे इसे पहले कहीं देखा है। उसने दिमाग पर ज़ोर दिया और फिर लैम्प-पोस्ट के प्रकाश में उसे ध्यान से देखते हुए अस्फुट से स्वर में बोला—'अ·····रे, ईला देवी !' और फिर हंसकर नमस्ते की !

यों अनायास मिल जाने से दोनों एक दूसरे को आश्चर्य से देख रहे थे।

'आप न जाने किन विचारों में खोये चले जा रहे थे। क्षमा कीजिये, मैंने आपको टोककर बुरा किया।' ईला ने मुस्कराते हुए कहा।

उमा हंस पड़ा—'खूब। कसूर तो आपने किया ही है। अच्छे या बुरे का निर्णय तो मुझे सौंपतीं। सिर्फ माफी मांगकर ही सजा से बच निकलने का अच्छा रास्ता निकाला है आपने।'

ईला हंस पड़ी। बोली—'आइये हमारे यहाँ चलिये।'

उमा ने एक बार आने के लिये कहा था उसे। कही हुई बात की रक्षा करना जानता था वह, अतः चुपचाप साथ हो लिया।

वह मन ही मन सोचने लगा, कितने दिनों बाद आज उसने ईला को देखा है। वह तो एक प्रकार से भूल ही गया था। पर कमाल कर दिया उसने कि अब तक वह उसकी तबियत तक पूछने नहीं आया ? क्या सोचा होगा ईला ने ? तो झट से पूछा—'अच्छी तो हैं आप ?'

'जी।'

'आपका वह पैर ?'

'वह तो थोड़े दिनों बाद ही ठीक हो गया था !'

'मैं आपसे उस दिन बाद आज मिल रहा हूँ। आपकी तबियत तक पूछने नहीं आया। रियली आई एम सॉरी (सच, मुझे खेद है।) ।'

—हूँ, सच ही तो कह रहा है उमा। मुझे कभी पूछने तक नहीं आया दुबारा। और मैं हर आहट पर इसके आने के भ्रम में खुशी से थिरक उठती थी।

वह बोली नहीं कुछ। एक मादक मुस्कान उसके होठों पर फैल गई। कुछ देर इधर-उधर की बातों के बाद घर आ गया। उमा ने एक कमरे में प्रवेश किया। साफ, सुसज्जित और आधुनिक ढंग का कमरा था। जिस जगह वह बैठा था, उसके सामने किताबों से भरी एक लम्बी आलमारी रखी हुई थी। दाहिनी ओर एक पलंग बिछा हुआ था, जिस पर साफ सफेद चादर बिछी हुई थी। कोने में एक गोल मेज़ पर कुछ काँच के, कुछ चीनी के बर्तन चमक रहे थे। बाँई ओर, दीवार के ठीक मध्य में 'मरियम' की तस्वीर और उससे थोड़ा हटकर 'क्राइस्ट' की तस्वीर, जिसके नीचे एक छोटा खूबसूरत लैम्प जल रहा था। इन तस्वीरों के ठीक नीचे एक छोटी चौकोर मेज पर एक खुशनुमा मेज़पोश बिछा हुआ था और उस पर उतने ही खूबसूरत और मैच करते हुए फ्रेम में ईला की फोटो जड़ी हुई रखी थी। उसकी दोनों ओर की साइड में, दो और तस्वीरें थी। दोनों ही ग्रुप थे। कदाचित ईला के परिवार के सदस्यों के ही।

ईला ईसाई महिला है—यह अब स्पष्ट था।

'आप हमारे यहाँ का खाने-पीने में तो कोई ऐतराज़ नहीं करेंगे ?' पानी का एक गिलास ऑफर करते हुए ईला ने सहजभाव में पूछा।

'ऐतराज़ ?' उमा हंस दिया— 'ऐतराज़ कैसा ?' फिर संक्षिप्त—सा रूक कर बोला—'लेकिन फ़िलहाल खाऊंगा नहीं। आप तकलीफ़ न करें।'

खाली गिलास को उसने सामने यत्न से रखी हुई मेज़ पर रखा ही था कि ईला ने खिलते हुए पूछा—'तो चाय लेंगे या कॉफी ?'

'कॉफी चल सकती है। इससर के नीचे दबते हुए उमा ने कहा। ईला ने तत्पर-सी अवस्था में कमरे से थोड़ा बाहर निकलकर पुकार मचाई—'माइकल। ओ माइकल। जल्दी से दो कॉफी और हाँ, खाने के लिए भी कुछ।'

'जी, बहुत अच्छा!' पड़ौस से आवाज़ आई। शायद किचिन था। आदेश देकर ईला खुशी से दीप्त कमरे में पड़े पास के मोंढे पर आकर बैठ गई।

उमा ने अपने भीतर उठती जिज्ञासा को अब व्यक्त किया—

'आप अकेली ही रहती हैं ?'

'जी!'

'और कोई नहीं ?'

'जी नहीं। पापा को मरे साल होने आये और मम्मी तो अभी ही-कोई दो साल पहले ही ईसू की प्यारी हुई हैं।'

'ओ ....' होठों की राह वेदना जैसे बाहर फट पड़ी।

किचिन में से स्टोव की आवाज़ आ रही थी—भर्र......भर्र......

'भाई-बहिन भी कोई नहीं है ?'

'जी नहीं। थोड़े में 'आर्फ़न' कह लीजियेगा।'

'क्या करती हैं आप ?'

'नार्मल गर्ल्स हाई स्कूल में टीचर हूं।'

'एम० ए० किया है ?'

'जी नहीं। सिर्फ़ ग्रेजुएट हूं।'

'क्यों ? आगे क्यों नहीं पढ़ीं आप ?'

'मिशन ही अकेला कब तक पढ़ाता ? पापा और मामा होते तो बात कुछ और होती। हाँ, अब इरादा करती हूं प्राइवेट बैठने का।'

'हूं…… …' धुंआ-सा कुछ एकत्र हुआ उमा के मन में ।

किचिन में बर्तन बज रहे थे । माइकल कोई गीत की कड़ियाँ गुन-गुना रहा था—

ईसू के पीछे कौन हो लेता ?

गुनाह को छोड़ के, बन्द उसके तोड़ के,

कौन आपको देता यीसू ?

कौन ताज आसमानी पावेगा ?

कौन उसके साथ अब हो जावेगा ?………

'मैं अभी आई—' ईला उठकर किचिन की ओर चल दी ।

वह उठा और आलमारी में जमी हुई किताबों को जाकर देखने लगा ।…………बायरन, 'कॉस', 'शी', मेरी करेली का 'थलमा', 'इटरनल सिटी', 'मॉम', 'वर्ड्सवर्थ'………। उमा की आँखें खुशी से चमक उठीं ।

आगे-आगे ईला और पीछे पीछे कॉफी । दो प्लेटों में थोड़ा नमकीन, मीठा ! वह पुनः अपने स्थान पर आकर बैठ गया ।

ईला प्याले को उमा की ओर बढ़ाती हुई बोली—'मेरी अच्छी किस्मत, जो आप यहाँ तशरीफ़ लाये ।'

'अगर ऐसा है, तो रोज़ चला आया करूंगा !' वह मुस्कराते हुए बोला ।

ईला हँस पड़ी । और फिर खिली की खिली ही रही देर तक । कुछ देर बाद उसने नमकीन और मिठाई की प्लेटें उमा की ओर बढ़ाईं । वह विना कुछ बोले, इस बार फिर ईला के अनुरोध के नीचे दब गया । चुपचाप एक पीस उठा लिया ।

ईला ने अपना प्याला एक ओर रखते हुए, मुस्करा कर कहा—'ताज्जुब है, आप हमारे यहाँ का खाना खाते हुए ज़रा भी संकोच नहीं

करते, जबकि वहुत से बुरा मानते हैं। खाना तो दूर, मि० उमा, वे लोग हमारे घर में आना भी बुरा समझते हैं। ऐसी संकीर्णता भी अभी है।'

'इस युग में तो शायद ही कोई ऐसी बातों को बुरा मानता होगा— ऐसा मेरा अपना मत है।' नमकीन से अपना मुंह साफ़ करते हुए उमा ने बिना ईला की ओर देखे कहा।

'आश्चर्य तो यही है मि० उमा—' झट से ईला बोली—'कि इस युग में भी आपको साठ फ़ीसदी ऐसे ही हिन्दू मिल जाएंगे, जो अपने धार्मिक विचारों में संकीर्णता लपेटे हुए हैं, रुढ़िवादी हैं।' यह कह, वह कुछ रुकी और फिर तनिक मुस्कराती हुई बोली—'स्कूल में हम कुल मिल-मिलाकर बीस-एक टीचर्स हैं, जिनमें अधिक हिन्दू हैं और शेष मुसलमान और ईसाई। उन हिन्दू टीचर्स में कुल चार ऐसी हैं जो हमारे साथ बैठकर खा लेती हैं, बाकी ऐसी दूर रहती हैं, जैसे हम छूत की कोई बीमारी हों—' कह, ईला खुद ही हँसने लगी।

बात पर उमा भी हँसे बिना न रहा। सहसा वह गम्भीर होते हुऐ बोला—'यह तो अपने-अपने विचार हैं ईलादेवी, अपने-अपने दृष्टिकोण। मेरा अपना मत तो यह है, कि धर्म का आडम्बर केवल एक धोखा हैं, खुराफात है। वैसे देखो, तो धर्म एक हैं। सभी की बुनियाद बलिदान, रहम और प्यार पर क़ायम है। जो उसूल हिन्दू धर्म में हैं—वे के वे और दूसरे मज़हबों में भी। इन्हीं के नीचे मैं, तुम, सब पनाह ले रहें हैं—' इतना कह, वह कुछ रुका, मानो पास अछूते पड़े गिलास से पानी पीने को रूका हो, फिर बोला—'जिसे दिमाग़ कबूल करे, वही हमारा मज़हब, वही हमारा धर्म। बाकी सब बकवास है। अपनी कहूं—। मैं आज हिन्दू हू, सिर्फ इसलिए की एक हिन्दू के घर में पैदा हुआ हूं, और आप इसलिए ईसाई हैं कि आपका जन्म एक ईसाई घर में हुआ है। इसलिए सिर्फ़ एक ही बात है—जिसे हमारा दिमाग़ कबूल करे, जिसे हमारी आत्मा स्वीकार करे, जो आत्मा पर बोझ न हो और दबाव न हो।.........'

ईला चित्र लिखित सी सुन रही थी। उसके रुकते ही, जैसे वह नींद

से जागी हो। बोली—'आपके खयालात वाकई क़द्र के क़ाबिल हैं उमा कान्त बाबू। आप.........' आप कहते-कहते रूक गई।

उमा केवल मुस्करा दिया। कुछ देर बाद बोला—'अब इजाज़त चाहूंगा। जब भी समय मिला, खुद ही हाज़िर होऊंगा। अच्छा—' यह कह, वह उठ खड़ा हुआ। फिर जैसे कोई भूली हुई बात याद आ गई हो, इस तरह बोला—'कष्ट दिया आपको, उसके लिए क्षमा!'

ईला बाहर तक साथ-साथ आई।

उमा ने देखा, उसके चेहरे पर अब तक जो खुशी दमक रही थी, उसके जाने का नाम लेते ही सहसा बुझ-सी गई है। अतः अब कोनों से उसे और भी ग़ौर से देखा। बैंगनी रंग की साड़ी, उसी से मैच करता हुआ ब्लाउज़। उभरा हुआ वक्ष। अमावस्या की रात जैसे काले बाल—जाड़े की रातों जैसे लम्बे। गोल खिला चेहरा। गुदाज़ देह, जिसके प्रत्येक अवयव से यौवन की दहाड़ें सुनाई देती थीं। प्रत्येक आकर्षण से युक्त—वह नारी देह।.........

'बस-बस, अब मैं चला जाऊंगा। आप कष्ट नहीं करें—' उमा ने उसे लौटने का अनुरोध किया।

'सड़क तक तो चलूं उमाकान्त बाबू—' उसके स्वर में कोई दबी वेदना-सी बजी।

उमा को न जाने कैसा लगा। वह चुप ही रहा।

उसने देखा, सड़क के ओरे-धोरे स्थित बंगलों में रोशनियां टिमटिमा रही थीं। सड़क के किनारे, थोड़ी-थोड़ी दूर पर लाइट-पोस्ट भी दीप्त थे।

आखिर चलते-चलते वह एक लाइट-पोस्ट के नीचे खड़ा हो गया।

ईला भी खड़ी हो गयी। बोली—'ज़रूर आयेंगे न? मैं इन्तज़ार करूंगी।'.........

वह मौन खड़ा रहा। वह भी मौन थी। समय जैसे ठहर गया हो।

उमा ने देखा, ईला का चेहरा और भी उतर गया है। पहले, जो खुशी उसके चेहरे पर थिरक रही थी, अब विलीन हो गयी थी। उसने जल्दी से हाथ जोड़ लिये! दोनों ने एक दूसरे को देखा—ईला की आंखों में कुछ तैर रहा था। क्या था वह? क्या? विषाद जैसा कुछ। और ईला ने गर्दन झुका ली।

उमा चल दिया। कुछ दूर जाकर उसने मुड़कर देखा। ईला जा रही थी, मन्थर गति से। गर्दन झुकी हुई। वह जा रही थी।

एक अकुलाया हुआ निःश्वास उमा ने छोड़ा और जल्दी-जल्दी चलने लगा। मन में विचित्र-सी हलचल आरम्भ हो गई थी उसके अन्तस में।

वही उमा, वही सड़क, वही हलचल।

आठ

रात भर सोया नहीं बराबर, इस पर डटकर बैंक में दिन भर काम किया उसने। और साथ ही सड़कों पर लम्बे-लम्बे गश्त लगाये उसने। परिणाम यह हुआ कि जब घर पहुँचा, तो उसने हाथ पैरों में ज़ोर की ऐंठन महसूस की। हाथ-पैर बुरी तरह दुख रहे थे। जोड़-जोड़ टूट रहा था। वह वैसा का वैसा जाकर बिस्तर पर गिर गया।

सशंकित सुशी ने भाग कर महरी को सूचित किया। वह रसोईघर से दौड़ी-दौड़ी आई और जल्दी से उमा का माथा छूकर देखा। चौंक पड़ी वह—'बाप रे इत्ता तेज़ बुखार?'

जल्दी से उसने चाय चढा दी।

सुशी कुछ देर चिन्तित-सी उमा के पास पलंग पर बैठी केवल अपने भैया का मुंह तकती रही। कितने ही विचार उसके मन में उठे और गिरे।

वह वहां से उठी और मुंह लटकाये, बाहर जाकर खड़ी हो गयी।

वहाँ भी उसका मन अस्थिर ही रहा। तो उदास-सी गीता के पास जाकर बैठ गयी।

गीता ने उसका मुंह उतरा हुआ देखा, तो झट से पूछा—'क्या बात है, उदास-उदास सी क्यों हो सुशी ?'

तो बताया—'भैया की तबियत ख़राब है। ज्वर में पड़े हैं।'

जैसे चोट लगी हो गीता को। तिलमिला कर पूछा उसने—'कहाँ हैं वे ?'

'भीतर लेटे हैं।'

गीता को इन तीन चार दिनों का सारा हाल सुशी ने पहले ही बता दिया था। गीता जानती थी कि मास्टर जी ने इन दिनों न ठीक से खाया है, और न पहना है। एक तरह से खाने का तो उलंघन ही किया है उन्होंने। यह सब सुनसुन कर उसका मन बहुत ही दुखी हुआ है। कई बार उसने सोचा भी कि तत्काल जाकर उनसे पूछे कि आपको यह हो क्या गया है ? अपने जीवन के पीछे क्यों पड़े हैं आप ? आखिर क्या चाहते है ? बैर दावा मुझसे है—मुझे सज़ा दीजिये पर .....

कभी भी इतना साहस न कर सकी वह। स्वयं में ही जलती रही। एक प्रकार से इन सब बातों के लिये वह स्वयं को ही दोषी मानती थी। अतः हज़ार बार उसने सोचा भी कि चलकर माफी माँग ले। वह अवश्य माफ़ कर देंगे। बल्कि खुश हो जाएंगें। किन्तु उसका साहस न हुआ और वह भीतर ही भीतर डरती रही और जलती रही। उसका अपना संकोच, मिथ्या धारणायें सदैव बाधा बनी रहीं और वह विवश-सी केवल छटपटाती ही रही।

किन्तु अब निरन्तर सुलगते हाहाकार ने उसके समस्त भीतरी घावों के बन्द खोल दिये थे। वह तत्काल उठ खड़ी हुई और सुशी को साथ लिये चल पड़ी।

द्वार पर कुछ देर ठिठकी-सी खड़ी देखती रही। मास्टर जी अस्त-व्यस्त और औंधे-से पड़े हुए थे। नेत्र बन्द थे। एक हाथ सिरहाने पर से पलंग के नीचे लटक रहा था। मुंह पर गम्भीर वेदना झलक रही थी।

ओढने की चादर सलों में भरी पैरों से नीचे फैंकी हुई जान पड़ती थी। हल्की-हल्की घुटती-सी कराहने की अवाज़ सुनाई देती थी !

साहस बटोरकर गीता सिरहाने आकर खड़ी हो गयी। कुछ देर वह उमा को वैसे ही निहारती खड़ी रही। केसर की मा चाय ले आई तो उसने धागे से भी पतले स्वर में पूछा—'मास्टर जी………'

उमा ने नहीं सुना।

तो उसने दोबारा स्नेहसंचित स्वर में, एक आत्मीय स्वर में पुकारा-'मास्टर जी………'

उमा ने आखें खोलीं। देखा—गीता आई है। हाथ में चाय का प्याला है।………सुख की एक लहर-सी सारे शरीर में व्याप्त हो गई। किन्तु फिर भी कष्ट की अकुलाई हंसी हंसकर वह बोला—'बहुत समझो, तुमने कष्ट किया गीता।' आत्म-ग्लानि में डूबकर गीता ने अपना निचला होठ दांतों से भींच लिया। उमा ने उठकर प्याला लेते हुए कहा—'बैठ जाओ !'

गीता वैसे ही खड़ी रही, सिर झुकाये।

उमा के होठों पर मुस्कान रोई !

'कैसा जी है आपका ?' घरघराते गले से पूछा उसने।

'ज़िन्दा हूँ अभी तो—' फीकी हंसी के साथ उमा ने प्याला फर्श पर रख दिया और फिर लेटकर आंखें जैसे कसकर बन्द कर लीं।

गीता तिलमिला कर रह गई।

कुछ देर कमरे में मौन छाया रहा। साथ वाले कमरे से घड़ी की क्षीण-सी टिक-टिक केवल सुनाई देती रही।

आखिर किसी प्रकार साहस बटोर कर गीता ने उमा के माथे पर हाथ फेरा और फिर तत्काल चिहुँककर हाथ समेटते हुए, कुसमुसाते स्वर में बोली—'उफ़, किस कदर आग की तरह जल रहा है बदन, मैं डाक्टर को बुला भेजती हूँ………।'

और उमा प्रतिरोध करे, इससे पूर्व गीता वहां से जा चुकी थी !

नौकर को डाक्टर लाने को भेजकर, वह पुनः कुर्सी पर आकर बैठ गई। मा पड़ौस में कहीं गई हुई थीं। आंखें मूंदे पड़ा था उमा। तो उठकर उसने आहिस्ता से वह चादर ओढा दी उसे, और फिर कंपकंपाता-सा हाथ रख कर देखा माथे पर। वह वैसा का वैसा तप रहा था अब भी। तो खड़ी हो, धीमे-धीमे दबाने लगी उसके सिर को।

उमा को बड़ा सुख लगा। कुछ देर बाद बोला—'तुम खड़ी हो, मेरे पैर दुख रहे हैं। तुम अपने हाथों को कष्ट दे रही हो तो मेरे हाथों के जोड़ दुखते हैं........'

एक विचित्र-सी सिहरन गीता के प्राणों में लोट गई। जैसे आज सभी वरदान प्राप्त हो गये थे, सभी चिरसंचित स्वप्न साकार हो उठे थे।

उमा ने आंखें खोल दीं और समीप खड़ी गीता के कण्ठ की ओर देखने लगा। कैसा श्वेत चांदनी की तरह शुभ्र था वह। उसमें नाड़ियों की स्पन्दन युक्त नीली-नीली रेखायें साफ़ दीख रही थीं। और वह प्रत्येक स्पन्दन जैसे उसे लिये जा रहा था मूर्च्छा की ओर।

और गीता ने क्षीण, कोमल स्वर में पूछा—'क्या देख रहे हैं ?'

उमा ने सुख के आवेश में आंखें मूंद लीं, बोला नहीं कुछ।

वह वैसे ही दबाती रही-धीमे-धीमे, यंत्र चालित-सी।

उमा ने पुनः आंखें खोलीं। उसकी आंखें इस बार गीता के बालों के सुन्दर गुच्छ पर अटक गईं। उसे लगा, जैसे गीता के रेशमी बालों का सौरभ उसके सारे शरीर को स्नेह भरे स्पर्श से छूता चला जा रहा है और एक अजीब सा नशा उसके शरीर की पोर-पोर में फैलता गया। उसकी धड़कनें तीव्र हो गईं। उसे लगा जैसे वह तप रहा है, उसकी छाती के भीतर कहीं सीसा उबल रहा है।

तभी उसे लगा जैसे वह अपने हृदय की इस विचित्र मांग को नहीं समझ पा रहा है। वह मांग जैसे अनुचित है। निषिद्ध है, वासनापूर्ण है. औचित्य की सीमाओं से परे। उसने भीतर ही भीतर इस दुर्भावना

को कुचल डालना चाहा और इस प्रयास में चौंक कर आंखें खोल दीं और गीता के फिरते हुए हाथों को कसकर पकड़ लिया और हांफते हुए सा बोला—'बस-बस, गीता। बहुत हो चुका !'

हाथ के इस प्रथम स्पर्श से ज़ोर का एक ज्वार उठा, जिसने सम्पूर्ण गीता को ही खंगाल डाला। दबे हुए हाथ को समेटती हुई, वह चुप-सी कुर्सी पर बैठ गई। फिर चांदनी-सी छिटकाती हुई बोली—'अब कैसा जी है ?'

'तुम्हारे हाथों में सच, कोई जादू था…………' उमा ने निःसंकोच स्वीकार करते हुए कहा—'देखो न, मैं तो स्वस्थ हो गया !'

गीता के गालों में लाली खिंच गई—'आप मुझे फ्लैटर कर रहे हैं !'

'नहीं। सच कह रहा हूँ। विश्वास करो मेरा।' उमा ने एक-एक शब्द यों रुक-रुक कहा, मानो प्रत्येक शब्द पर ज़ोर देकर कह रहा हो। क्षणेक रुक कर वह मुस्कराता हुआ बोला—'सच बताओ, क्या तुमने यहां नहीं आने की कसम खाली थी ?'

गीता को लगा जैसे मारे हर्ष के वह अब रो पड़ेगी।

और उमा ने देखा, जैसे उसकी आंखों की कोरों में कुछ चमक रहा है और होंठ कुछ कहने को कर रहे हैं। तो बोला—'गलती मेरी ही थी। न जाने मुझे उस दिन क्या हो गया था। मुझे खेद है !'

और गीता ने एक ओर मुंह फेर लिया, जैसे आंसुओं को छिपाने हेतु। इतने में डाक्टर आ गया।

× × × ×

दोपहर को गीता आई तो मालकिन उमा के पास देर से बैठी इधर-उधर की बातें कर रही थीं। आज छुट्टी का दिन था। नौकर जाकर डाक्टर से दवा ले आया था। गीता आई, तो अम्मा उठ गई। घर का काम काज पड़ा था। नौकर को वसूली के लिये भी भेजना था। उमा ने कृतज्ञ आंखों से मालकिन को देखा।

कल की अपेक्षा उमा अब अधिक स्वस्थ था। इस बीच गीता कई बार आ चुकी थी।

अधबुना स्वेटर लिये गीता सिरहाने पड़ी कुर्सी पर बैठ गई। थोड़ी देर बाद उमा ने हंस कर कहा—'कितने दिन यों ही बर्बाद हो गये। अब कल से तो पढ़ने आओगी न ?'

'जी !' उंगलियों में सलाइयां घूमती रहीं।

दूसरी खुराक का समय हो गया था, अतः उमा ने दवा पी और फिर दाहिनी ओर की दीवार का सहारा लेकर बैठ गया।

मौन बना वह रात भर की अपनी परिस्थिति पर पुनर्वालोकन करने लगा। उसका मन कैसा उल्लसित था। उसके प्राणों में एक मधुर संगीत-सा थिरक रहा था। प्रत्येक स्पन्दन के साथ वह संगीत सारे शरीर में फैल रहा था। पहले तो ऐसा कभी नहीं हुआ था। यह प्रथम अवसर था, जब उसने 'नारी' को इतने निकट से देखा था। उसे ऐसा लगता रहा था जैसे जीवन में आशायें हैं सुस्वप्न हैं, उमंगें हैं, कामनायें हैं—अत्यन्त रोचक और प्रेरक। क्या वह ऐसे ही आलोक में सदा जीवित रह सकेगा ?

इस मोड़ पर आकर उसने जैसे अनुभव किया था कि बिना नारी के जीवन कुछ रसविहीन, शुष्क और अकिंचन है। नारी ही जीवन में सुन्दरता लाती है, अपनी मधुरिमा उडेलती है और रस टपकाती है।

प्रथम बार वह 'प्रेम' जैसी संक्षिप्त, दो अक्षरों के योग से निर्मित वस्तु पर विवेचनात्मक ढंग से—उसके प्रारूप पर गंभीरता से सोचता रहा था।......वही प्रेम, जिसमें आंसू और हंसी साथ मिलकर जीवन का चित्र खींचते हैं। जिसमें विवशता का नाम आत्मसमर्पण हो जाता है और इच्छा ऐसे व्यूह में घूमकर बढ़ती है कि उसे प्रेम की संज्ञा दे दी जाती है। जहां से निर्विकार प्राण शरीरों के निकट स्पर्श की मादकता में फूल की सुगंध पर बैठ कर, कोकिल के कण्ठों में गा उठते हैं और तब शरीर के प्रत्येक रोम की नोक पर सुख या दुख ध्रुव लोक की भांति

स्थिर हो जाता है। और तब मुस्कान की रेखा में बसन्त मचलने लगता है और कपोलों के हल्के उभार की सीमा पर आंसू की रुकी हुई एक विकल बूंद में विषाद एक प्रलय की सृष्टि कर देता है…………।

सोचते-सोचते वह कितना उत्तेजित हो उठा था। पलंग पर से उठकर उसने कमरे की खिड़की खोल दी थी। सुशी गहरी निद्रा में लीन थी। वह खिड़की में से बाहर झांकता रहा था। दूधिया चांदनी, वृक्ष के पत्तों से लड़खड़ाती उन्मत वायु, चारों ओर अपार सुन्दरता। खामोशी, जैसे जीवन के कोई मधुर क्षण हों जिन्हें वह जी रहा हो। पता नहीं कब तक वह उस सौन्दर्य का निर्निमेष रसपान करता रहा! फर्श पर अचानक गोद में से ऊन का गोला गिर गया था। उसे उठाते हुए गीता ने उसका ध्यान भंग किया—'क्या सोच रहे हैं आप ?'

'ओ… हाँ, मैं सोच रहा था, रात की बात पर। मैं अकेला खुली खिड़की में खड़ा बाहर के नज़ारे आंखों में भर रहा था कि—'

'मैं अचानक आ गई थी—' गीता ने पूर्ति कर दी।

'हां। और तुमने तनिक तुनक कर कहा था मुझे—वहां शीत में क्यों खड़े हैं आप ? तबियत तो वैसे ही खराब है। उमा ने मुस्कराते हुए कहा।

और मैंने कहा था—"………."

'आपने कहा था—गीता तुम ? इतनी रात गये—यहां ?' गीता मुस्कराई। और तुमने कहा था—'सो क्या ! मन में देखने की आई, आ गई। सोचा सोने से पूर्व एक बार आपको और देखलूं। दवा वगैरा भी पिलादूं। जानती हूँ, दवा आदि के बारे में आप कितने पन्कचुअल हैं।' उमा ने मुस्कराते हुए कहा।

'और हम हा-हा हंस पड़े थे—।' गीता ने पूर्ति की।

'और उसके बाद मैं मौन हो गया था—एक दम चुप !' उमा बोला।

'हां । मैं भी मौन हो गई थी—एक दम स्तब्ध !' गीता ने कहा ।

'हाँ, जैसे तूफान के पहले सन्नाटा छा जाता है ।'

'हां, जैसे ज्वार चढ़ने के पूर्व पानी शान्त पड़ जाता है ।' गीता गम्भीर हो चली ।

मैंने पूछा था—'तुम यह सहसा चुप क्यों हो गईं ?'

और मैंने पूछा था—'खामोश क्यों हो गये ?' गीता तनिक मुस्कराई ।

मैं बोला था—'अपनी इस मिली-जुली हंसी से पता नहीं क्यों डर गया मैं ।'

'और मैं खामोश-सी विस्फारित नेत्रों से केवल आपके चेहरे को देखती रह गई थी............' गीता की उंगलियां सलाइयों पर सहसा रुक गईं

'हां......'

''थोड़ी देर बाद तुम चली गईं थीं ।......'

यह कह उमा ने दीर्घ निःश्वास छोड़ा और फिर कराहता-सा पलंग पर लेट गया । अब तक की स्थिर उंगलियां फिर से सलाइयों पर चलने लगीं ।

'फिर रात भर मैं सो नहीं सका : उच्छ्वास के साथ उमा बोला ।

'क्यों ?'—सलाइयां फिर रुक गईं ।

'तुम्हें नींद आई थी ?' करवट ले, उमा ने गीता की ओर देखा ।

'नहीं......' सलाइयां तेज़ी से चलने लगीं ।

'क्यों ?'

'नहीं सो सकी ।'

'क्यों ?'

'केवल सोचती रही ।'

'क्या सोचती रहीं ?'

'कि हम डर जाते हैं—डरपोक हैं।'

उमा जोर से खिल खिलाया। गीता सिर डाले मन्द-मन्द मुस्काती रही। और तभी उमा के हृदय ने उसे जोर से झंझोड़ कर पूछा—'सच कहो, क्या तुम्हें गीता प्रिय नहीं ?' उसने बेचैनी के साथ उधर की करवट ले ली।

सहसा उसके विचारों में उलझ कर आई—ईला। वह क्षीण-सा रंगीन परिचय। उसे वह रात स्मरण हो गई, जब वह उसे छोड़ने स[illegible] तक आई थी। क्या था उसके नेत्रों में ? नाता जोड़कर क्या मि[illegible] उसे इस उमा से ? वह क्या देने योग्य है ? व्यथा, जलन, आं[illegible] लो।............

उसने इधर की करवट ली। बुनाई चल रही थी।

अब होठों पर देर से टिका प्रश्न सहसा उभरा—'यह स्वेटर कि[illegible] लिये बुना जा रहा है ?'

'यदि कहूँ.........' गीता के होठों पर शोख मुस्कान फैल गई।

'कह दो न...... ...।'

'ऐसी जल्दी भी क्या है ?'

'तो संकोच भी कैसा ?'

'अभी नहीं, अच्छा मुहूर्त देखकर कहूँगी !'

'ओ—' वह ढह-सा गया।

नीची गर्दन किये गीता ने कनखियों से देखा उमा को। आज वह बड़ी खुश थी। मास्टर जी अब कितने प्यार से बोलते हैं उससे। अब शायद कभी अप्रसन्न न होंगे। यदि अप्रसन्न हुये भी तो वह उनकी खुशामद करके, मना लेगी उन्हें, दोबारा ऐसी गलती न होने देगी अब।...... सहसा रात का ध्यान हो आया।.........

उसने पूछ लिया था—'इतनी देर से क्या देख रहे हैं मेरी ओर ?'

'कुछ नहीं ।' वह घबड़ा उठे थे ।

उफ़, वह भाषाहीन छन्द । उसके अपने फिरते हुये हाथ को कसकर अपने हाथ में लेकर रोक देना ।

सोचते-सोचते गीता की सारी देह थिरक उठी । अभूतपूर्व आनन्द उसकी समस्त नसों में व्याप्त हो गया । ·········रात भर वह न सो सकी ।

हम डर जाते हैं । डरपोक हैं—'बात को दोहराते हुये उमा खुद-ब-खुद हंस पड़ा । कदाचित् बात की यथार्थता पर ।

बात पर गीता भी हंस पड़ी । कदाचित् हंसी में योग देने के लिये ।

इतने में खिचड़ी और मूँग की दाल लिये महरी ने कमरे में प्रवेश किया ।

नौ

बैरिस्टर साहब 'टाइम्स ऑफ इन्डिया' पढने में व्यस्त थे ।

किशन–उनका नौकर मेज़ पर चाय रख गया और कुछ देर बाद मनोरमा देवी और उनकी लड़की चन्द्रमुखी उनके निकट पड़ी कुर्सी पर आकर बैठ गईं, पर बैरिस्टर साहब को इसकी खबर तक नहीं । हारकर उनकी पत्नी मनोरमा देवी ने चाय बनाते हुए पूछा—"क्या कोई खास खबर है आज ?"

पत्र पर ही आंखें जमाये हुए बोले—'ख़ास ही नहीं, बहुत ख़ास ।'

मनोरमा देवी ने उत्सुकता प्रकट की—'क्या कुछ है, मैं भी सुनूं ।'

तो बैरिस्टर साहब ने बताया—'मनुष्य के ज्ञान ने, उस चकित कर देने वाली शक्ति ने, आज इतनी उन्नति की है कि वह मनुष्य की ही शत्रु बन गई है । उसके हित के काम में न आकर, उसी का अहित कर रही है ।'

मनोरमा देवी उनका आशय नहीं समझीं, अतः देखती भर रहीं अपने पति को !

बैरिस्टर साहब ने उनका यह भाव ताड़ लिया। वो कुछ हंसे, फिर बात को सरल करते हुए कहने लगे—'कलकत्ता और नोआखाली में हत्याकाण्ड हो रहा है। मानव ने मानव का चोला उतारकर, कसाई का रूप धारण किया है और अपने हाथ खून से रंग लिये हैं—उन हज़ारों निरअपराध इन्सानों के रक्त से। स्त्रियों, अबलाओं और मासूम बच्चों के रक्त से। हिन्दू और मुस्लिम की पारस्परिक कशमकश। अमानुषिक हत्यायें। आगज़नी। लूट-पाट। हाहाकार। आर्तनाद। विध्वंस ही विध्वंस। जैसे क़यामत का बिगुल बज रहा हो, जैसे मृत्यु का तांडव हो कोई। यह देखो, उन कंकालों और बदनसीबों की कुछ तस्वीरें।

'उफ़'—मनोरमा देवी एक बारगी हिल उठीं। जब और नहीं देखा गया तो अख़बार को एक ओर हटा दिया। बैरिस्टर साहब सांस लेने लगे। फिर चाय का प्याला हाथ में उठाया। अनमने भाव से एक चुस्की ही ली थी कि उत्तेजित से स्वर में बोले—'यह फ़साद इन दो स्थानों तक ही सीमित नहीं है। यह देश के प्रत्येक कोने में है। आज राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक इमारतें हिल रही हैं।'

वातावरण को कुछ व्यथित होता जान, मनोरमा देवी बोलीं—'यह चीज़ रहेगी, क्योंकि प्राकृतिक नियम है। ज़िन्दगी का एक हिस्सा है यह कशमकश। पहले यह कुछ एक हाथों में होती है। फिर यह बढ़-कर फ़िरकों में होती है—और ख़ून बहता है। दौलत का फ़लसफा यदि हम समझ जायें तो पूरा मसला ही हल हो जाता है'...मनोरमा देवी ने अपनी समझ में काफी ठोस और संजीदा बात कह दी थी, जिसकी एकाएक उनसे कोई आशा नहीं कर सकता था।

बैरिस्टर साहब ने भी ग़ौर से अपनी पत्नी की ओर देखा। बात 'इन्टलेक्चुएल' ही नहीं, अतर्कित भी थी। वह इत्मीनान से चाय पीने लगे।

जो बात मनोरमा देवी कहने के लिये अपने साथ बांध कर लाई थीं, वह दूसरा ही प्रसंग छिड़ जाने के कारण अब तक बंधी ही रही।

अब उचित अवसर समझकर उन्होंने अपना मन्तव्य स्पष्ट कर देना चाहा। तत्पर हो बोलीं—'एक बात कहनी थी आपसे······।'

'कहो।' बैरिस्टर साहब ने सिगरेट सुलगाली।

तो कहा—'अपने निरंजन के लिये मैंने एक लड़की छांट ली है। बस, आपके 'हां' करने की देर है।'

'टाइम्स' पढती हुई चन्द्रमुखी के सहसा कान खड़े हुए—'निरंजन और एक लड़की।' विषय उत्सुकतापूर्ण था। पर अखबार पढने की तल्लीनता का ऐसा अभिनय करने लगी, मानो पास में क्या कुछ कहा जा रहा है, पता नहीं।

बैरिस्टर साहब बोले—'आखिर कौन लड़की ? किसकी है, कौन है, कहां रहती है, किस खानदान से है—?'

मनोरमा देवी ने प्रफुल्ल होकर कहा—'आप ने देखा है उसे, जानते भी हैं। वह है न गीता।'

गीता ! चन्द्रमुखी अनिर्वचनीय आनन्द से उछल पड़ी। गीता मेरी भाभी ! उसकी देह पुलकित हो उठी। वह पिता का निर्णय सुनने को अधीर हो उठी। मन ही मन अनुकूल निर्णय की भगवान से प्रार्थना करने लगी।

बैरिस्टर साहब कुछ हंसे, फिर बोले—'अच्छा तो तुम उस गीता के बारे में कह रही हो, जो अपनी चन्द्रो के साथ पढ़ती है। ?' फिर स्वतः ही बोले—'लड़की अच्छी है। पर निरंजन से भी पूछ लिया है ?'

'अजी, उसको मुझ पर छोड़ो। उसने तो मेरे पहले से ही छांट लिया है।' मनोरमा देवी मृदुल हंसी हंस पड़ीं।

'ओह, तो यह बात है। घर में यह नाटक चल रहा है और हमारे देवताओं को खबर तक नहीं।' मुस्कराते हुए बैरिस्टर साहब ने अब अपनी बेटी की ओर देखा—'क्यों री शैतान ?'

चन्द्रमुखी वहां से भाग छूटी।

'किन्तु गीता के घर वालों से भी तुमने बात चीत करली है ?' बैरिस्टर साहब उठते हुए बोले।

'वह मैं सब, ठीक कर लूँगी। बस, आपसे पूछना था।' मुस्कराती-सी मनोरमा देवी भी कुर्सी पर से उठ गईं।

'क्यों नहीं, क्यों नहीं, इन मामलों में तुम बड़ी निपुण हो। अपना मामला भी तो तुमने ही ठीक कर लिया था—'हंसते हुए बैरिस्टर साहब कोर्ट यार्ड के गार्डन की ओर बढ़ गये।

मनोरमा देवी लाज और मुस्कान में लिपटी उन्हें देखती रही।

चन्द्रमुखी बिजली की तरह अपने कमरे में से निकलकर सीधी निरंजन के कमरे में पहुंची। खुशी से उसका चेहरा लाल हो रहा था। वस्त्रों की खसखसाहट से निरंजन का ध्यान इसकी तरफ़ आकर्षित हुआ। खुशी से दमकता चेहरा देख कर वह ताड़ गया कि कुछ न कुछ बात है। पर वह ऐसा बन गया, जैसे उसका चन्द्रमुखी से कोई सम्बन्ध नहीं। खुली किताब के पन्ने पलटता रहा।

तो चन्द्रमुखी शोख़ी से गुनगुनाने लगी—'अरे हमें दुआयें दो, तुम्हें क़ातिल बना दिया।......'

चन्द्रमुखी बार-बार उस पंक्ति को दोहराने लगी।

निरंजन फिर भी नीरव ही रहा।

तो चन्द्रमुखी ने ऊंचे स्वर में चीखना शुरू किया—कव्वाली के 'स्टाइल' में 'हमें दुआयें, हमें दुआयें दो......अरे हमें......'

निरंजन तंग आ गया। डांटते हुए बोला—'यह क्या बकवास लगा रक्खी है ?'

चन्द्रमुखी चुप ही न हुई। छत की ओर मुंह किये हुए, टेबुल पर ज़ोर-ज़ोर से हाथ मारकर गुनगुनाती रही।

तो निरंजन ने चिल्लाकर कहा—'मैं कहता हूँ, क्या मजाक है ?'

अत्यन्त भोले स्वर में चन्द्रमुखी बोली—'मैं कहती हूँ भैया, यह पन्ने पलटना क्या मज़ाक है ?'

"मैं कहता हूँ, तू कौन है पूछने वाली ?'

'मैं कहती हूँ यह पन्ने पलटना अब छोड़ दो भैया। इनसे कुछ नहीं चलेगा। अब तो गृहस्थी संभालनी होगी—गृहस्थी।'

'देख चन्द्रो, अब तू पिट जायेगी।'

'बेफ़िक्र रहिये, आपके पिटने के लिये 'गीता भाभी' को बुला लेने का बहुत जल्द बन्दोबस्त किया जा रहा है।' यह कह, वह कुर्सी से छिटककर खड़ी हो गई।

निरंजन उसके पीछे भागा।

चन्द्रमुखी उसे अंगूठा दिखाकर दरवाज़े की ओर भागी। दरवाज़े से निकलते ही माँ से टक्कर हो गई। चन्द्रमुखी ठिठक कर खड़ी हो गई—अत्यन्त सीधी, निर्दोष-सी।

माँ ने पूछा—'यह क्या हो रहा था ?'

चन्द्रमुखी मुंह फुलाकर बोली—'भैया से ही पूछो मां। कब से मेरे पीछे पड़े हैं।'

निरंजन कट कर रह गया। लौटने लगा, तभी मां ने पूछा–'क्या बात है निरंजन ? यह चन्द्रा क्या शिकायत कर रही है ?'

निरंजन कुछ नहीं बोला। तो चन्द्रमुखी बोली—'मैं बताऊं मां ? सारा किस्सा उन गीता भाभी का है। कहते थे, चन्द्रा तू किसी तरह उसे जल्दी से बुलाले। मैंने कहा, धैर्य रखो भैया, धैर्य। इतनी गड़बड़ न मचाओ। हमने सब बन्दोबस्त कर लिया है.........'

मां ने बीच ही में उसके हल्की-सी चपत मार, मुस्कराते हुए कहा–'क्यों री, आज कल तू बड़ी शैतान हो गई है ?'

निरंजन मारे शर्म के लाल हो गया।

'घबराओ नहीं भैया, अभी तुम्हारा सन्देशा पहुँचाती हूँ मैं। व्यर्थ अपना मन छोटा न करो।' चन्द्रमुखी खिलखिलाती हुई वहां से भाग गई।

मां भी हंसती हुई रसोई घर की ओर चल दीं।

श्रौर जब निरंजन कमरे में अकेला ही रह गया तो सोचने लगा—क्या यह सत्य है ? क्या सचमुच गीता उसकी होकर रहेगी ? क्या उसका यह मधुर स्वप्न साकार होने जा रहा है ? समय के वक्ष पर बैठा, वह आशा-निराशा के टांके तोड़ने लगा। सच, यदि गीता ने उसके शुष्क जीवन की रिक्तता को भर दिया तो उसकी दुनिया सरस और आकर्षक बन जायगी। कितना भाग्यशाली होगा वह। उसकी आत्मा सुन्दर-सुन्दर कल्पनाओं और रंगीन प्रत्याशाओं से भर उठी। वह इन्हीं श्राशाश्रों और सुखद कल्पनाश्रों के श्रालोक में नहाया-सा, मन्त्र-मुग्ध-सा, विचारों में खोया बैठा रहा। उसने मन ही मन संकल्प कर लिया कि वह गीता को छोड़ और किसी से शादी नहीं करेगा। वह गीता की मधुर स्मृति का सहारा थामे, खुशी-खुशी अविवाहित जीवन बिता देगा। अपने सारे जीवन को उसकी स्मृति में गुज़ार देगा। इस निश्चय के पश्चात्, उसने एक विचित्र-सा सन्तोष और नवीन बल का अनुभव किया।

सहसा उसका ध्यान घड़ी पर गया। ग्यारह बजने वाले थे। कालेज जाने की तैयारी करने वह भागा।

वेकेंट पीरियड में चन्द्रमुखी ने गीता को घसीटते हुए कालेज लॉन पर लाकर बिठा दिया। गीता ने बात चलाई—'आज तो बड़ी खुश दीख रही हो चन्द्रमुखी। ऐसा कौन सा गढ़ जीत लिया है ?'

'गढ़ तो तुमने जीता है, मेरी लाडो।'

'देखो, तुम्हें फिर शरारत सूझी।'

'मैं सच कहती हूँ।'

'मैंने कौनसा गढ़ जीता है बाबा।'

'भाभी बनने जा रही हो मेरी—यह सब क्या कम है ?'

'देखो, मैं नहीं बोलूंगी तुमसे।'

'क्यों जी, एक बात बताओ। हमारे भैया पर ही डाका डाला तुमने ? कोई और नहीं मिला ?'

गीता उठकर जाने का उपक्रम करने लगी। उसे यह मज़ाक अच्छा नहीं लगा। किन्तु थोड़ी देर बाद जब चन्द्रमुखी ने सच्चा हाल कह कर विश्वास दिलाया तो गीता की आंखों के सम्मुख अंधेरा-सा छा गया और उसे लगा जैसे पृथ्वी उल्टा चक्कर काट रही है। उसे लगा, जैसे भूकम्प आ गया है कोई। जैसे वह अत्यन्त दुर्बल हो गई है, निरीह-सी हो गई है और उसकी बची-खुची शक्ति भी धीरे-धीरे विलीन हो रही है। उसे लगा, जैसे वह अधिक खड़ी नहीं रह सकती, अभी-अभी मूर्च्छित होकर गिर जायगी।

तो संभलकर बैठ गई झट से। और संभलकर ही कह दिया उसने—'नहीं-नहीं, मैं अभी कोई शादी-वादी नहीं करूँगी। मैं पढ़ूँगी अभी तो।'

उसकी यह बात चन्द्रमुखी ने हँसी में उड़ा-सी दी।

कुछ-एक क्षण दोनों चुप रहीं और फिर 'लेडीज़ रूम' में आकर बैठ गईं। चन्द्रमुखी ने 'जूलियस सीज़र' निकालकर पढ़ना शुरू कर दिया और गीता 'ओरियन्ट' के पन्ने पलटने लगी। सामने के सारे अक्षर उसे धुँधले दीख पड़ रहे थे। अस्पष्ट से, तैरते-से। वह चाह रही थी वहाँ से भाग जाना, उस पास बैठी चन्द्रमुखी की छाया से दूर भाग जाना।

वह नहीं चाहती थी कि उसकी दुर्बलता, उसकी अपनी आत्मा का किसी निगूढ स्थल में छिपा रहस्य चन्द्रमुखी पर प्रकट हो। उसने अब तक अपना रहस्य अपनी अभिन्न सखि तक से भी गोपनीय ही रखा था। किन्तु ऐसी परिस्थिति में, जब उसके हृदय में भीषण उथल-पुथल मची हुई थी, वह मन-ही-मन भीत-विकम्पित-सी थी कि कहीं उसका अब तक गोपनीय रखा गया रहस्य कहीं तार-तार न हो जाय। इसलिये वह अपने ज़ख्मों की पीड़ा चुपचाप सह रही थी। वह नहीं चाहती थी कि चन्द्रमुखी को किसी भी भांति त्रास पहुँचाए, उसे अप्रसन्न करे। और इसलिये चन्द्रमुखी ने जब उसे 'भाभी' कह कर सम्बोधित किया तो वह एकाएक संभल गई। कर्कश-सा 'ना' प्रयोग नहीं किया गया। बल्कि

बात को एक हल्का-सा रूप दे दिया। चाहे उस 'भाभी' सम्बोधन ने उस पर चाबुक का-सा प्रहार किया था आज। वह तिलमिलाकर रह गई थी। अपने ही में घुटकर रह गई थी।

वह भूली नहीं थी कि सुशी ने भी एक बार उसे 'भाभी' कहकर पुकारा, था किन्तु तब उसने ऐसा कुछ भी अनुभव नहीं किया था। उस समय यही 'भाभी' शब्द उसे बहुत मीठा लगा था। दो अक्षरों का वह मधुर सम्मेलन उसे प्रथम बार सुनने को मिला था। आत्मीयता पूर्ण आवेश में भरकर उसने सुशी को खींचकर अपने हृदय से लगा लेना चाहा था। तब उसने जाना था कि यह 'भाभी' सम्बोधन कैसा प्रिय है, कितना मधुर और मीठा है। कितना कोमल है। अर्थ से पूर्ण। किन्तु उस समय वह सुशी के कृत्रिम भोलेपन पर केवल मुस्करा कर रह गई थी। पर हकीकत तो यही है कि उसकी आत्मा सचमुच ही उसकी भाभी बन जाने को आतुर हो उठी थी। और यह भी हकीकत ही थी कि सुशी के 'भाभी' सम्बोधित किये जाने से पूर्व ही उसने मास्टरजी को अपने हृदय में एकस्थ और आरुढ कर लिया था। चाहे वह भाव श्रद्धा का रहा हो, चाहे आदर का। सम्मोहन का भी हो सकता है। और इसके बाद—आज तक की अवधि में तो बहुत कुछ घट गया था। कितने ही भाषाहीन छन्द थे। मूक आकुलतायें थीं। उच्छ्वासों का व्योम था। आँखों में की शब्दहीन विवशतायें थीं, जो एक निश्चित स्थल पर आकर अपने ही में टूट कर रह जाती थीं।

और आज जब चन्द्रमुखी ने उसी निगूढ़ स्थल पर अपने भैया को आसीन करने वाली बात कही तो वह भीतर ही भीतर क्षत-विक्षत हो उठी। यदि चन्द्रमुखी के स्थान पर उस समय और कोई होता तो वह अच्छी तरह बताती कि इस प्रकार के कहने मात्र से क्या परिणाम होता है?

वह जानती हैं, चन्द्रमुखी के भैया उस पर आसक्त हैं। कितना चाहते हैं उसे। वह उनके उस स्नेह का आदर करती है। किन्तु मास्टरजी को जो स्थान उसने दे दिया था—उस पर वह उन्हें आसीन

नहीं कर सकती । निरंजन ही नहीं, दूसरा कोई भी अब वहाँ आसीन नहीं हो सकता था । उसे इस बात का खेद था कि निरंजन उसका प्रेम-पात्र नहीं बन सका था । उसके प्रति उसे मन ही मन सहानुभूति थी । वह असमर्थ थी, विवश थी ।.........

ऐसा चलता आ रहा था । किन्तु आगे चलकर एक दिन परिस्थितियों में ऐसा खिंचाव आयगा कि वह उसे निरंजन के समीप ला पटकने का साहस करेंगी—इसकी उसने कभी कल्पना तक न की थी । परिस्थितियों का आज यह अजीब रूप देख, वह अविश्वास से भर उठी । विषाद से भर उठी ।.........

वह निरुद्देश्य 'ओरियन्ट' के पन्ने पलटती रही । अभी एक पीरियड और था । उसने घड़ी की ओर नज़र उठाई और एक अकुलाया हुआ दीर्घ निःश्वास उसके होठों पर फैलकर रह गया ।

चन्द्रमुखी 'जूलियस सीज़र' में ऐसी उलझी हुई थी कि उसे गीता के सिर पर से आंधी आकर गुज़र जाने का आभास तक न हुआ ।

इतने में बैल बजी । दोनों उठकर क्लास में चली गईं । घर आते समय सुशी ने देखा, गीता बहन बहुत ही उदास दिखाई दे रही थीं । भीतर से पूछने की जिज्ञासा उभरी—'क्या बात है जीजी । बहुत उदास-उदास-सी हो आज !'

'कुछ नहीं, थोड़ा सिर में दर्द है मेरे !' उसने बात बनाई । सुशी की जिज्ञासा दब गई ।

संध्या को जब वह मास्टरजी के सम्मुख पढ़ने को बैठी तो उमा ने देखा—उसके सुन्दर कमनीय मुख-मण्डल में और दिन जो नीरव प्रसन्नता की माधुरी और आभा दिखाई पड़ती थी—आज नहीं थी ।

तो पूछा—'तबियत खराब है ?'

चोरी न पकड़ी जाये, इसलिये सिर झुकाकर अत्यन्त कोमल स्वर में कहा—'जी, मैं अच्छी तरह हूँ.........!'

किन्तु इस कथन में सत्य का आभास ढूँढे नहीं मिला उमा को । मौन बना पढ़ाने लगा—'गुंजन.........'

एक पद की व्याख्या करते-करते उमा ने एक बार फिर पुस्तक से आंख उठाकर गीता की ओर देखा। फिर से पूछा—'सुस्त क्यों हो? सच सच बताओ।'

'जी, कुछ नहीं।' गीता उड़ गई।

'मुझसे भी छिपाओगी?'

स्वर की आत्मीयता में वह जैसे बह गई। बोली—'जी नहीं ···!'

'तो बताओ।'

'सिर में दर्द है······!' कह तो गई वह, पर उसी क्षण कांप उठी। इतना बड़ा असत्य कैसे बोल सकी वह!

'अच्छा तो आज रहने दो।' उमा ने किताब बन्द कर दी। और किताब बन्द करने पर उमा ने अनुभव किया कि गीता के प्रति उसके अपने हृदय में अनुकम्पा, स्नेह और आत्मीयता की भावना नित्य प्रति ज़ोर पकड़ती जा रही है। उसे अपने मन में एक प्रकार की चंचलता-सी जान पड़ी। ऐसी अनुभूति गीता को छोड़ पहले किसी भी नारी के लिये नहीं हुई थी। वह विस्मय में डूबा सोचने लगा।

कुछ देर बाद उसने पूछा—'इम्तिहान कब से हैं?'

'चौथे दिन से!'

'अच्छा, तो कल सुबह भी पढ़ना और शाम को भी। अभी आराम करो·····!'

गीता चली गई।

दस

एक-एक कर गीता के सभी पर्चे अच्छे हो गये। अच्छे ही नहीं, बल्कि बहुत अच्छे। फर्स्टक्लास की आशा बन्ध गई। उमाकांत ने उसे

पढ़ाने में कोई कसर न छोड़ी थी। उसका परिश्रम व्यर्थ नहीं गया। उसे अपार हर्ष था।

इन्हीं भागते हुए दिनों में उमाकांत ने एक दिन बैंक से त्यागपत्र दे दिया। उसके सम्मान को ठेस लगी थी। घटना इस प्रकार थी—

रामजस उसी के पास चपरासी था। बीस रुपये वेतन। बहुत ही नेक आदमी। उमा ने उस दिन कोई पचास बार बैल रिंग की तो उसके पश्चात् भी वह अनुपस्थित रहा। लगभग दोपहर के एक बजे आकर उसने उसे सलाम किया।

'अब तक कहां रहे रामजस ? देखो, बास्केट में कितने पेपर्स भर गये !' उमा ने उलाहनेपूर्ण स्वर में कहा।

'सरकार,' बहुत ही विनम्र स्वर में रामजस ने बताया—'मैनेजर साहब के यहां घर पर था। कुछ सौदा-बस्त लेने भेजा था !'

'तो उनका घर का काम भी करते हो ?' उमा के माथे पर बल पड़ गया।

'जी, करना पड़ता है साब। हम तो हुक्म के ताबेदार हैं।'

'लेकिन तुम तो केवल बैंक के नौकर हो। क्या मैनेजर साहब अपनी ओर से तुम्हें कुछ देते हैं ?'

'जी नहीं।'

उमा उबला—'तो फिर तुम मुफ्त काम क्यों करते हो ? वह भी बैंक के टाईम में ?'

रामजस चुप हो गया।

तो उमा ने समझाया फिर—'देखो, अब यदि वह तुम्हें फिर कभी अपने निजी काम पर भेजें तो साफ ना कर दो। तुम्हारा वह कुछ नहीं बिगाड़ सकते। इस मामले में मैं तुम्हारी सहायता करूंगा। समझे ?'

'जी।' रामजस टोकरी खाली करने लगा।

उमा ने क्षणेक कलम को रखकर सोचा—कैसी स्वार्थी दुनिया है। कैसी नीरस हृदय-हीनता। सरकारी नौकर से प्राइवेट काम लिया

जाता है। और वह भी धौंस में, मुफ्त ।......वह पत्थर-सा, आहत अभिमान लिये सोचता रहा।

कोई आधे घंटे बाद ब्रांच मैनेजर ने रामजस को बुलाया और हुक्म दिया—'बाज़ार से एक पैकेट 'बर्कले' और दो पान। जल्दी।'

थोड़ी देर रामजस के समझ में नहीं आया कि क्या किया जाय। उसने मेज़ पर पड़े पैसों को छुआ तक नहीं। तो मैनेजर ने गुर्राते हुए कहा—'खड़ा क्यों है, सुना नहीं ?'

साहस बटोर कर रामजस ने कह दिया—'मुझे अकाउन्टेट साहब ने ऐसे कामों को करने के लिये मना कर दी है।'

मैनेजर गरजा—'कौन अकाउन्टेट ?'

सहमे से स्वर में रामजस ने बताया—'उमाकांत बाबू।'

मेज़ ठोकते हुए मैनेजर ने कहा—'उन्हें हमारा सलाम कहो।'

रामजस ने आकर उमा को मैनेजर का सलाम कहा।

उमा सामने फैले कागज़ों को पेपर-व्हेट के नीचे दबाकर उठ गया। जैसे ही उमा ने कमरे में प्रवेश किया तो मैनेजर ने आँखों को अत्यन्त छोटी करके और मुँह को बदमिजाज़ करके कहा—'तुमने रामजस को मेरा काम करने से मना किया है ?'

'जी नहीं—यदि वह बैंक का काम है।'

'बैंक के काम ही की कोई छाप है ? तुम मना करने वाले कौन होते हो ?'

'रामजस बैंक का नौकर है। उसे केवल बैंक का काम करने का ही वेतन मिलता है। वह आपका निजी नौकर नहीं है।' यह कह, उमा तनिक मुस्कराया—'और रहा मेरा—सो मैं बैंक का ही एक कर्मचारी हूँ।'

मैनेजर का मुँह बीरब हूटी-सा हो गया—'बस खामोश। मैं कुछ सुनना नहीं चाहता। तुमने एक नौकर को प्रोत्साहन दिया है। मैं तुम्हारे विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही करूँगा।'

उमा ने सहज स्वभाव से कहा—'मुझे अनुशासनात्मक कार्यवाही की तनिक भी चिन्ता नहीं क्योंकि मैंने जो कुछ किया है—न्यायोचित किया है। मैं यह नहीं देख सकता कि किसी गरीब से महज़ अपनी 'पोज़ीशन' की धौंस में कोई इस तरह काम लेता रहे। बेहतर तो यह है कि आप ऐसे कामों के लिये अपना खुद का कोई नौकर रखलें और रखकर देखें।'

मैनेजर क्रोध में पागल हो गया—'निकल जाओ मेरे कमरे से। मैं तुम्हारी सूरत तक देखना पसन्द नहीं करता।'

'आपके आदेशानुसार मैं आया था—स्वत: चलकर नहीं। पर अब देखता हूँ कि यहाँ शिष्टाचार और इन्सानियत की बू तक नहीं है। ऐसे माहौल में काम करना तो दूर—सांस लेना भी असम्भव है। अभी आपके पास मेरा त्यागपत्र आये जाता है—' इतना कह, उमाकांत आंधी की तरह कमरे से बाहर हो गया। और बिना किसी संकोच के उसने त्यागपत्र दे दिया।

इस प्रकार अपने सम्मान की रक्षा करते हुए, नौकरी छोड़ देने पर, उसके सभी साथी—बैंक के प्राय: सभी कर्मचारी उसके प्रति हृदय से अपना आदरभाव प्रकट कर रहे थे। वैसे भी वे लोग उसके ऊँचे विचारों और आदर्शों से पहले से ही प्रभावित थे। और आज सगर्व अपने सम्मान की जब उसने इस प्रकार रक्षा की, तो सबमें एक खलबली सी मच गई। सब ने उसे घेर लिया और मिन्टों में उसका गला हारों से ऊपर तक भर गया।

सबका आभार प्रकट करते हुए और उनके स्नेह के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करते हुए, उसने सबसे विदा ली।

चपरासियों की आँखें भर आईं। विशेषकर रामजस तो हू-हू रो पड़ा। उसने उन्हें अपने अधिकारों की एक संगठित रूप में रक्षा करने की अन्तिम बात समझाई। उसने कहा—'एक ज़लील जानवर की तरह अपने को बेच देना मानवता नहीं—मानवता का अपमान है। मेरी शुभकामनायें तुम्हारे साथ हैं। यदि तुम्हारे कोई भी काम आ सका, तो स्वयं सन्तोष मानूंगा।......'

जब घर पहुँचा तो गीता ने देखा—मास्टर जी लदे हैं हारों से। हतप्रभ-सी देखती रह गई यह सब ।

उसका वह भाव तोड़ते हुए, उसने मुस्करा कर कहा–'मैंने त्याग-पत्र दे दिया है।'

'त्याग पत्र ?' प्रतिध्वनि के समान बोली गीता। इससे आगे जैसे वह कुछ बोल ही न सकी।

उसने जैसे ही देखा कि गीता के चेहरे पर कोई बादल-सा आ गया है तो संक्षेप में सारी घटना कह सुनाई । और फिर होठों पर मुस्कान खींचते हुए पूछा —'अब बताओ, मैंने अच्छा किया या बुरा ?'

गीता मौन ही रही। उसके नेत्रों के सम्मुख कोई अजीब-सा चित्र सजीव हो रहा था—खादी की वर्दी। हारों से लदा। मुस्कराता हुआ ग्रेजुएट। आदर्शवादी। आत्मनिर्भर। आत्म-सम्मानी। देश का सच्चा सैनिक। सुख और सन्तोष की खिंची हुई एक दिव्य छटा।.........यह तस्वीर गीता को बहुत भाई। बहुत भाई। वह मन ही मन इस चित्र के सम्मुख नत मस्तक-सी हो गई। और उसके नेत्र अवनत हो गये। पर गर्व और हर्ष की लाली खिंच आई।

उमा का आज का यह आचरण चाहे कितना ही 'कन्ट्रोवर्सियल क्यों न हो, गीता फिर भी मन ही मन एक गर्व-सा अनुभव कर रही थी।

ग्यारह

अवकाश प्राप्त उमा अब अधिकतर घर पर ही समय बिताता। गीता भी उसी के ओरे-धोरे बनी रहती। जैसे उसी की छाया हो कोई। और गीता में रूप-राशि की प्रतिमा को पाकर उसे प्रोत्साहन मिलता, साहस मिलता, जीवन मिलता।

जब ऊषा भाल पर टीका लगाती तो उमा गीता को विचित्र बातें बताने बैठ जाता। सूरदास, चण्डीदास, विद्यापति के पदों का भाव उसे

समझाता । उसने गीता को साहित्य का ज्ञान दिया । बर्नार्डशा, इबसन, रोम्यां रोला, फ्रायड आदि की रचनाओं की आलोचना भी गीता के साथ वह करता । कालिदास और शेक्सपीयर आदि दिग्गज लेखकों की कृतियों पर भी वह विचार-विमर्श करता । वह बताता—'सबके ऊपर मनुष्य सत्य है । उससे बढकर कुछ नहीं है । मनुष्यता का दावा ही सबकी अपेक्षा बड़ा है और वही परम सत्य है ।.........'

गीता ने लक्ष किया कि उसके मास्टर जी देश और जातीय साहित्य को बड़ी ही श्रद्धा से देखते हैं । इनके हृदय में मातृभूमि और देशवासियों के प्रति प्रबल प्रेम और भक्ति का सागर लहरा रहा है । गीता का नारी हृदय इस प्रतिभाशाली, देशभक्त युवक की प्रतिभा का परम प्रशंसक बन गया । वह उसकी अपूर्व प्रतिभा और विश्लेषण सामर्थ्य का परिचय पाकर मन ही मन पुलकित हो उठी ।

और उमा ने देखा कि गीता में युवावस्था की चंचलता अथवा वर्तमान युग की प्रगल्भता नहीं-सी है । वह परम श्रद्धा और एकाग्रता के साथ विषयों की व्याख्या सुना करती है । कभी-कभी गीता को अपने बहुत ही निकट पाकर उसका नारी के प्रति समालोचक मन अपनी ही निर्बलता से विमूढ हो जाता । गीता की कटोरी-सी आंखों में, एक नवीन अपरिचित जग का उसे आभास मिलता और उसका उपेक्षित मन कांप-कांप उठता । परन्तु तभी अपने चेष्टाकृत प्रयास द्वारा मन को धिक्कार देता, उस पर संयम पा लेता ।

गीता यह जानती थी कि उसके मास्टर जी नारी-भक्त नहीं हैं । उनकी ओर उसके आकर्षित होने का यह भी एक प्रमुख कारण था । गीता ने देखा, मास्टर जी को अपनी स्वतंत्र सभ्यता और संस्कृति के ऊपर श्रद्धा है, तो वह पुलकित हो जाती । और जब उमा ने उसे बताया कि हमारे देशवासी नकल करने को ही सभ्यता का वरदान समझने लगे हैं तो गीता अनमनी-सी हो गयी । उमाने उसे बताया—'अपने को भूलना मृत्यु का दूसरा रूप है ।'.........वह सुनती । उसमें न जाने कैसे-कैसे भाव उठते और गिरते ।

और इसी प्रकार समय का रथ आगे बढता जा रहा था । हास्य-विनोद में । शिक्षा-दीक्षा में ।

एक दिन गीता ने झिझकते हुए कहा—'आज पिक्चर देखने की इच्छा कर रही है । शान्ताराम का नया पिक्चर लगा है—दो आंखें बारह हाथ ! अवार्ड विनर !'

'हां-हां तो देख आओ । ज़रूर देखना चाहिये ।' उमा ने समर्थन किया !

'जी, यह बात नहीं ।' गीता सकुचाई—'आपको भी चलना होगा ।' स्वर में आग्रह था, अनुरोध था । वह दब गया, न चाहते हुए भी दब गया— जैसी तुम्हारी इच्छा' लेकिन मालकिन से ज़रा पूछ लेना !'

'जी अच्छा ।' गीता खिल गई । चांदनी-सी छिटका, भाग गई चांदनी के उस आलोक में । वह मृदुल हंसी हंस पड़ा ।

छः बजे गीता आई तो उसने दृष्टि उठाकर उसे देखा । काली साड़ी, श्वेत मांसल-देह । भीतर ही भीतर कुछ टूटा जैसे । मन, पता नहीं किसी बात की प्रत्याशा कर उठा ।

कुछ देर में उमा ने खादी का ढीला कुर्ता और पैरों में चप्पल डालकर गीता के सम्मुख आ खड़ा हुआ तो गीता उसके चौड़े वक्षस्थल और सिर पर बिखरे बालों को देख, उन्हीं में कहीं समा जाने को उत्सुक हो उठी ।

सुशी को साथ ले, तीनों चल दिये । राह में देखा कि कितने ही नेत्र पहले गीता को देखते हैं, फिर उसे, फिर गीता पर आबद्ध होकर रह जाते हैं ।

हॉल में अन्धेरा था । किसी प्रकार वह अपनी सीटों पर जा बैठे । खेल अभी शुरू नहीं हुआ था ।

सीटों पर बैठते समय प्रथम स्पर्श में ही उसके और गीता के मध्य बिजली तड़प कर रह गई ।

खेल शुरू हो गया। चांदी की तस्वीरें पर्दे पर नाचने लगीं।.........

जब हॉल रीता होने लगा और वे बाहर निकले तो एक ओर, साइड में खड़ी ईला दिखाई दी।

उसे वहां अकस्मात् देखते ही वह आश्चर्यान्वित रह गया। ईला ने हंसकर नमस्ते की। उसके कदम रुक गये। गीता और सुशी भी समीप ही खड़ी हो गईं।

किसी प्रकार संभल-संभल कर उमा ने परिचय स्वरूप कहा—'यह हैं ईला देवी। गर्ल्स स्कूल में अध्यापिका हैं.........'

गीता ने हाथ जोड़े।

'और यह है गीता—मेरी प्रिय छात्रा। सोचता हूँ, यही परिचय पर्याप्त होगा।' मुस्कराते हुए उमा ने कहा।

ईला ने हाथ जोड़े। मिलने की प्रसन्नता जताई।

दोनों ने दोनों को देखा।

'और यह है मेरी बहिन सुशी—'

सुशी ने नमस्ते कर ली।

ईला देवी ने प्यार का हाथ सुशी के सिर पर फेरा।

अब उमाकान्त ने कुछ स्वस्थ हो पूछा—'पिक्चर देखने आई हैं ?'

'जी। कैसा है ?'

'ओ—अति उत्तम। जरूर देखियेगा।' उमा के स्वर में कुछ उतावलापन था। ईला ताड़ गई।

इत्ते में घंटी बजी। ईला ने 'नमस्ते' की और विलग हो गई। धक्-धक्। धक्-धक्। उमा की चाल में अप्रत्याशित तेजी आ गई थी।

गीता सोच रही थी—ईला.........। यह सब क्या है ?

और टिकिट लेते समय ईला सोच रही थी—गीता.........। उसका स्थान। उसका 'रोल' ?

गीता ने पूछा—'पिक्चर कैसी लगी ?' मानो पूछने को तो हो—मास्टरजी·········यह ईला देवी········· !'

'अनुपम—'उमा जैसे नींद में से चौंक कर बोला। कुछ देर बाद प्रकृतिस्थ होते हुए वह बोला—'दिग्दर्शक शान्ताराम ने इस सदेशवाहक सामाजिक कलाकृति में सचमुच अपनी प्रतिभा का खुलकर परिचय दिया है। गीत कर्णप्रिय। पट कथा बहुत ही भावपूर्ण और उद्देश्यपूर्ण। शान्ताराम स्वयं 'मूवी' की जान है।'

गीता तो कहीं और ही बह रही थी·········।

'चित्र-लेखन निर्दोष है। ध्वनि साफ़ है। अन्त बहुत ही श्रेष्ठ और मार्मिक है। हृदय को ज़ोर से स्पर्श करता है।' उमा अनवरत बोले जा रहा था—'कहानी का ध्येय बहुत ही ऊंचा है। उसमें मनुष्य के जीवन का महत्व अंकित है। स्पष्टतया: जो सन्देश मिलता है, वह है—आदमी के जीवन में मधुर क्षण तो बहुत ही चन्द हैं, उन्हीं से प्रभावित हो, आवेश में आ, सही अर्थ में ज़िन्दा रहने के तौर-तरीके को नहीं भूल जाना चाहिये। वैसे भी आदमी को निरन्तर जीने का वरदान मिला ही कब है ?'·········

गीता को पता नहीं, कब वह समालोचना समाप्त हो गई। उमा ने उसके निकट आ, धीरे-से पूछा—'क्या सोच रही हो ?'

घबराकर और कुछ संभलकर कहा—'कुछ नहीं।'·········

उमा मुस्करा दिया।

किन्तु उमा की इस मुस्कराहट से तो उसके घाव थोड़ा और छिल गये।

पता नहीं क्यों, वह अपने भीतर क्षोभ, झुंझलाहट और ईर्ष्या के अंकुर फैलते हुए अनुभव कर रही थी। उसमें की छिपी बैठी विकार रहित नारी सन्देह से क्षुब्ध हो उठी, विकार से भर गई।

उधर, पिक्चर छूटी तो राह में ईला विचारों के अंधड़ में बह रही

थी । उसका नारी-हृदय रह रहकर स्पर्धा की चिनगारियों से जल उठता था । उमाकान्त बाबू के स्वर में कैसा उतावलापन था ।········ छोटी-छोटी बातों को विशाल बना कर वह सोचे जा रही थी । उसकी विचारधारा दूसरी ओर प्रवाहित हुई । गीता कोई भी हो, उसके पारस्परिक सम्बन्ध कुछ भी हों—वह कौन होती है उनके बारे में सोचने वाली ? वह जिसे चाहेंगे साथ रखेंगे । जहां चाहेंगे घूमेंगे, जावेंगे, रहेंगे । वह उनकी कौड़ी-पाई का हिसाब रखने वाली कौन ?··· ·····

सहसा उनके विचारों ने उसे तिरस्कृत करते हुए झंझोड़ा—'छि:छि:, तुम्हारे ऐसे विचार ? गीता तो उनकी छात्रा मात्र है—एक बान्धवी । उससे उनका क्या सम्बन्ध हो सकता है ?'

फिर भी संदेह का दीपक उसे खा रहा था । अपने ही ताने-बाने में वह फंसती चली जा रही थी ।

विचारों में दबी, काटती नीरवता को भंग करते हुए, वह अब सरदार-पुरे की लट्टुओं से दीप्त सड़क पर चल रही थी । एकान्त और निर्जनता विचारों के प्रेरक होते हैं । वह भावनाओं को उकसाते और भड़काते हैं । यही परिस्थिति ईला की थी ।

माइकल सो गया था । ईला भी पलंग पर जाकर पड़ गयी ।

सुबह उठकर उसने देखा, पलंग की चादर में कितनी सलवटें पड़ी हुई थीं । वह उस समय सोचने बैठ गई कि इन सलवटों में और उनके अपने हृदय की सलवटों में कितना सामंजस्य है—कितना !

बारह

गीता और उमाकान्त का साथ-साथ पिक्चर देखने जाना और रात में देर से लौटना विशेषकर हवेली की स्त्रियों की चर्चा का विषय बन गया । न जाने क्यों, वकील साहब बेरी की धर्म-पत्नी को औरों की अपेक्षा यह बात अधिकतर अरुचिकर लगी । वह उस समय भी दो-चार

बड़ी-बूढ़ी और हम-उम्र स्त्रियों से सरगर्मी से इस विषय पर चर्चा करने से बाज़ नहीं आई। रात को भी, जब तक उसने अपने पति से इस बात का ज़िक्र नहीं किया, उसे शान्ति न मिली। और संक्षेप में, यही सिनेमा का प्रसंग सुबह होते-होते बहुतों की ज़बान पर पहुँच चुका था।.........

सामाजिक व्यवस्था ही कुछ ऐसी है कि मनुष्य समाज की ज़ंजीरों से बंधा हुआ है। वह स्वयं कुछ नहीं है। इकाई है। इकाई का अस्तित्व नहीं होता। वह समाज में चलता है, टूटता है, बनता है। बिगड़कर बनता है अथवा बन कर बिगड़ता है। बनने और बिगड़ने का यह क्रम उन ज़ंजीरों, उन सीखचों और दायरों में ही होता रहता है। यह बनना, यह निर्माण, उसका यह ढलना, समाज की एक गति है। व्यवस्था ही कुछ ऐसी है कि प्रत्येक प्राणी गति-विरोध किये बिना ही चुपचाप, यंत्र चालित-सा ज़ंजीरों में बंधा आगे जिये चला जाता है। वह समाज की नींव को कुरदने की चेष्टा नहीं करता क्योंकि जानता है, कि कुरदने से नींव ढीली ही होगी और यदि ऐसा हुआ तो फिर वह बनेगा अथवा बिगड़ेगा किस पर? और इसी स्थल पर आकर वह अनुभव करता है कि वह स्वयं कुछ नहीं है। विवश है। निरीह है। बेचारा है। केवल इकाई मात्र है। वह ज़ंजीरों से बंधा है—उनसे विलग उसका कोई अस्तित्व ही नहीं।............

वकील साहब की पत्नी एक-दो और स्त्रियों को एकत्र कर, मालकिन की गर्दन पर मानों सवार हो गई। सानुनासिक स्वर में बोली—'हमें तो भई, जवान लड़की का उमा के साथ यों अकेले घूमते-फिरना रत्ती नहीं सुहाता। बात का बुरा न मानना बहन। ज़माना ख़राब है। आगे तुम्हारी मर्ज़ी।'

मालकिन हंसकर रह गई—'नहीं-नहीं, उमाकान्त ऐसा-वैसा नहीं। मैं उसे जानती हूँ। वह बड़ा नेक, बड़ा सीधा लड़का है। मुझे उस पर पूरा विश्वास है।'

वकील साहब की पत्नी कुछ अप्रतिभ-सी होती हुई बोलीं—

'विश्वास की बात मैं थोड़े ही कह रही हूँ, गीता की मां। ज़माना बुरा है। बद अच्छा, बदनाम बुरा। ज़माने का मुंह कोई थोड़े ही पकड़ सकता है बहन।'

मालकिन बोलीं नहीं कुछ। मौन बनी सुनती रहीं बस।

तो एक बोली--'हां बहन, रजनी दीदी ठीक ही कह रही हैं। तुम्हारे ही भले की बात है। जवान लड़की को अधिक नहीं टिकाया करते अपने घर।'

दूसरी बोली—'अब गीता ब्याह लायक हो गई है। काफ़ी पढ़ लिया है। बेटी ज़ात को अधिक पढ़ाना भी ठीक नहीं। अब तो उसके पीले हाथ हो जाएं, वही ठीक है।'

सुशी टीन के चूल्हों के बीच पूरी अन्नपूर्णा बनी बैठी थी। जैसे ही उसके कानों में गीता जीजी और अपने भैया के बारे में थोड़ी-थोड़ी भनक पहुँची तो अपने चौके—चूल्हे का मोह छोड़, वह ध्यान से सुनने लगी।

तीसरी कह रही थी—'गीता के अब बाप थोड़े ही बैठा है, सो सब सोचेगा—करेगा। अब तो तुम ही उसकी मां हो और पिता। तुम समझती हो, यदि आज इसके पिता जीवित होते, तो क्या अब तक अपनी बेटी को इस तरह कुंआरी घर में बिठाये रखते ?' यह कह, समर्थन के लिये उसने औरों की तरफ़ देखा।

सब ने एक स्वर में कहा—'कभी नहीं।'

मालकिन पलकें झुकाये चुप बैठी रहीं। पति की याद से उनकी आंखें सजल हो आईं।

वकील साहब की पत्नी सहृदयता प्रकट करती हुई बोलीं—'लड़की सयानी है। अब तुम्हें ही उसकी चिन्ता करनी होगी, बहन। उसे अब ज़्यादा घूमने-फिरने, इधर-उधर उमा के साथ अकेले में जाने न दिया करो।'............

'सो तो है, रजनी बहन।' मालकिन आखिर बोलीं—'मैं स्वयं उसके पीले हाथ कर देने की चिन्ता में हूँ। यह काम अब शीघ्र ही करुंगी।'

बाल सुनकर सबके कलेजे ठंडे हो गये।

सुशी कुछ देर सोच में डूबी बैठी रही और फिर अपने भैया के कमरे की ओर लपकी, किन्तु जब गीता को वहां बैठे पाया तो लौट आई।

'ईला' को बिन्दु मानकर—आगे बढकर, उमा से सभी स्पष्टीकरण करवा लेना चाहती थी ताकि वह अपने समस्त संशय, भ्रम-सभ्रम सदा के लिये डुबो सके। बाहर क्या हो रहा है—उन्हीं को लेकर क्या ताने-बुने जा रहे हैं, इससे वह दोनों ही बेखबर थे। उन्हें क्या मालूम कि वह सामाजिक व्यवस्था को तोड़ रहे हैं।

जो कुछ उमा ने 'ईला' के प्रति सफ़ाई पेश की, उससे उसकी वह सशंकित दुर्भावानामय शंकायें धीरे-धीरे तिरोहित हो गईं। उसके मन का बोझ हल्का हो गया और कुछ देर बाद वह विजयी भाव लिये, मुस्कराती हुई वहां से चल दी।

उमा ने भी चैन की सांस ली।

वह अभी चैन की सांस ले ही पाया था कि सुशी आ गई और बाहर की दुनिया का सारा हाल उसने उसे यों का यों सुना दिया।

उमा पर जैसे फ़ालिज का असर हुआ हो। एकाएक उसे विश्वास नहीं हुआ पर जब सुशी ने उसे यकीन दिलाया, अमुक स्त्रियों के नाम लिये, तो वह सन्न-सा आहत अभिमान लिये केवल सुशी का मुंह देखता रह गया।

मारे क्षोभ और क्रोध के वह लाल हो गया। उसे लग रहा था जैसे कोई गर्म-गर्म जलती हुई लोहे की सलाखें उसे छुआ रहा है। जैसे उसकी आत्मा किसी अकथनीय दुख से क्षोभ और ग्लानि के डंकों से क्षत-विक्षत हो रही है। वह उठकर विक्षिप्त-सी अवस्था में कमरे में घूमने लगा।............

उसकी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था—क्या किया जाय।

सुशी ने जब अपने भैया की यह हालत देखी तो उसने मन ही मन बात को अपने भैया को बता देने की ग़लती महसूस की। पर अब क्या हो सकता था ? वह किसी अनहोनी घटना और भावी आशंका से कांपने लगी।

उमा ने असंख्य विचारों के व्यूह में से निकलकर केवल एक ही विचार को महत्व दिया। वह था—कल होने तक इस मकान को छोड़ देना !

कितने ही आंसू उसके गले में आकर फंस गये जब वह होठों ही होठों में फुसफुसाया—'कल मैं यहां से चला जाऊंगा। जैसे आया था, वैसे ही चुपचाप चला जाऊंगा।.........'

थोड़ा धूंधलका होते ही वह ईला के यहां पहुँचा।

ईला उसे देखते ही खिल गई। किन्तु तत्काल ही उसने 'मार्क' किया कि वह बहुत ही परेशान नज़र आ रहा था।

कुछ देर बैठने के पश्चात, उसने फीकी मुस्कराहट चेहरे पर लाते हुए कहा—'आपकी नज़र में यहां आस-पास कोई खाली मकान मिल सकेगा ?' फिर कुछ और स्पष्ट करते हुए बोला—'यही, एक कमरे का हो, दो का हो, पर स्वतंत्र हो। साझे में नहीं।'

'जी है। क्यों ?'

'कुछ नहीं, मुझे चाहिये।'

ईला की समस्त देह जैसे खुशी से झूम उठी। तत्पर-सी उठती हुई बोली—'आइये, आपको दिखा दूं। अभी कोई दस-एक दिन पहले ही खाली हुआ है। मिस्टर डेनियल रहते थे, अब उनकी बदली लखनऊ हो गई।'

उमा ने सरसरी तौर पर मकान देख लिया और बोला—'मुझे मकान पसन्द है। आप मेरी ओर से मकान मालिक से बात कर लें। मैं कल ही से आना चाहता हूँ।...........'

'जी, अच्छा ।'

'अपको कष्ट दिया है मैंने, क्षमा चाहता हूँ ।'

ईला ने उपालम्भ-सा दिया—'आप मुझे इस प्रकार शर्मिदा करने पर क्यों तुले हुए हैं ?'

उमा बुझी मुस्कान के साथ उठते हुए बोला— अच्छा चलता हूँ ।'

ईला ने कुछ देर और बैठने का अनुरोध किया किन्तु उसने विवशता प्रकट कर दी और तेज़ क़दमों के साथ चल दिया । उसके मन का बोझ उतर गया था ।

आज ईला अपेक्षाकृत प्रसन्न थी ।

घर आकर उसने अपना सारा सामान बांध लिया । सामान था ही कितना-सा ? कुछ ही देर में बंध-बंधा गया ।

घर छोड़ने की बात अब सुशी पर और साथ ही महरी पर भी स्पष्ट हो चुकी थी । एकाएक इस प्रकार घर छोड़ने का कारण क्या है, यह महरी नहीं समझ पा रही थी । केवल सुशी जानती थी । और उसने यह बात गोपनीय रखी ।

गीता एक दम अनभिज्ञ थी । उसे क्या मालूम कि उसके सरिता-जल में एक दिन संसार की गिलाजत भी आकर मिलेगी और स्वच्छता और गिलाजत में पारस्परिक कितना संघर्ष होगा । काश, उसे मालूम होता कि मानव की भावी योजनायें कभी-कभी कितनी मिथ्या और विपरीत निकलती हैं, कि आशा के टूटते ही वह मांस का एक लोथड़ा मात्र रह जाता है ।............

सुबह होते ही उमा तांगा लेने चल दिया । अत्युक्त सीमा तक वह अपने आपको चोर अनुभव कर रहा था कि कोई न देखे, कि वह क्या कर रहा है ।

थोड़ी देर बाद तांगा बाहर आकर खड़ा हो गया । उसने चुपचाप मकान में प्रवेश किया । बाह्य रूप से वह व्यस्त होने की चेष्टा में लगा था कि गीता कमरे में आई ।

सामान बंधा पड़ा था। मास्टरजी की पीठ थी। वह निर्निमेष देखती रही। कुछ समझ में नहीं आ रहा था। ज्ञानशून्य-सी द्वार में ही ठिठकी खड़ी रही।

अब भी उमा की पीठ थी उसकी ओर। सुशी का मुख मलीन था और······गीता जैसे कुछ समझने की कोशिश कर रही हो। धीरे-धीरे वह भीतर आई। अब वह मास्टरजी के बिल्कुल समीप खड़ी थी। कमरे में भारी सन्नाटा तना हुआ था।

उसने धीरे से कांपते स्वर में पुकारा—'मास्टरजी'·········

जैसे दीनता की टंकार हो कोई। उमा का मन डूबने लगा। वह बहुत ही प्यार से बोला—'आओ गीता······।'

दिल भर आये।

भर्राये कण्ठ स्वर में वह बोला—'मैं जा रहा हूँ।' और इससे आगे उसे लगा, जैसे उसका स्वर सुबक पड़ेगा।

गीता मास्टरजी के और भी निकट आकर खड़ी हो गई। उसकी परीक्षा की घड़ी निकट आ गई थी। वेदना का भंवर चढ़ा था और पृथ्वी का कलेजा धप्-धप् बज रहा था।

'कहां जा रहे हैं आप?' स्वर में व्यथा-सी बजी।

'मैं यह घर छोड़ रहा हूँ।'

—देखो, देखो सम्भलो उमाकान्त बाबू, वरना कहीं रो पड़ोगे।

गीता नीरव खड़ी उसके मुंह की ओर देखती रही।

'तुम नहीं जानती गीता, आदमी पहाड़ से गिर कर उठ सकता है—नज़रों से गिर कर कभी नहीं उठ सकता। इसीलिये मैं जा रहा हूँ गीता। मुझे जाना भी चाहिये।'

गीता—नीरव, जड़वत्।

'मुझे सदैव तुम्हारा ध्यान रहा है, तुम्हारे हित का भी, उसी ध्यान की रक्षा करने हेतु मैं जा रहा हूँ·········'

—गीता—सुन्न। आंखों में भंवर बढ़ रहा है।

'तुम ही मुझे सबसे अधिक प्रिय हो।'

—लहरों पर सीपी गिर रही है।

'मैं इसी शहर में रहूँगा। यहां से कुछ ही दूर।'

—सीपी में मोती बन रहे हैं।

'मुझे तुम्हारा ध्यान सदैव बना रहेगा। चाहकर भी कदाचित् न भूल सकूं।'

—मोती अब कपोलों पर से नीचे ढुलक पड़े हैं।

'तुम रोती हो गीता।...मैंने सदैव तुम्हें रुलाया ही तो है। पता नहीं, इसका प्रायश्चित भी कर सकूंगा अथवा नहीं।...'

—घाव के समस्त बंद टूट गये हैं।

'मत रोओ गीता। तुम्हें मेरे सिर की सौगन्ध।'

—जैसे भूकम्प आ गया हो। प्रलय की आंधी उठी हो।

— लम्बी-लम्बी हिचकियां।

'मत रोओ गीता। तुम्हें मेरी सौगन्ध है।'

—गीता ने अपना सर मास्टरजी के वक्ष पर टेक दिया है। कुर्ता भीग रहा है। और मास्टरजी का कंपकंपाता हाथ गीता के मुलायम बालों में फिर रहा है......फिर रहा है। कलेजे में आग की-सी लपटें उठ रही हैं। लम्बी-लम्बी हिचकियां, आरे की तरह।

'मान जाओ गीता।.........'

'मास्टरजी......' हिचकियों में खिचता और टूटता हुआ, प्राणों को आलोड़ित कर देने वाला स्वर। नारी की दीनता और याचना में फैला एक दर्दीला स्वर। नीरस, मधु-विहीन मधुचक्र से कलेजे की एक भन्नाहट-सा।

उमा की आंखों में आंसू भर आये।

'आप मत जाइये। मैं हाथ जोड़ती हूँ, आप मत जाइये—मत

जाइये मास्टरजी।' गीता का पथराया-स्वर उसकी तमाम हस्ती को झंझोड़ गया।

उमा एक बालक की भांति रोने के लिये मचल उठा।

'मैं भीख मांगती हूँ, मत जाइये।' गीता ने अपना मुंह उमा के सीने में छिपा लिया।

'नहीं-नहीं, गीता। तुम नहीं समझतीं, मेरे चले जाने में ही मेरा, तुम्हारा, सबका हित और कल्याण निहित है।'

'आपकी छाया से दूर रह कर तो मैं मर जाऊंगी, मास्टरजी।'

'नहीं नहीं, गीता। तुम्हें मेरे प्राणों की सौगन्ध जो......'

'तो मेरा अपराध बताइये।'

'तुम्हारा अपराध ? कुछ भी तो नहीं है। भगवान साक्षी हैं।'

'तो अम्मा का ?'

'वह तो देवी स्वरूप हैं, गीता।'

'तो फिर ?'

'परिस्थितियां ही कुछ ऐसी आ गई हैं गीता। मुझे तुम्हारा खयाल अधिक है, मुझ से भी, तुम नहीं जानतीं, यह दुनिया बुरी जगह है।' आगे की बात को वह पी गया।

गीता के भीतर समस्त आंसू जैसे बह-बहकर अब चुक गये थे। दृढ़ स्वर में बोली—'तो नहीं रुकोगे ?'

'नहीं।'

'नहीं रुकोगे ?'

'किसी भी शर्त पर नहीं ?'

'मैं कैसे समझाऊं तुम्हें ?'

बचे-खुचे आंसू पूरे वेग से छलछला आये। रुलाई फूट निकलने को हुई तो साड़ी का पल्लू ठूंस लिया मुंह में, और झट से सिर टेक दिया अपना मास्टरजी के चरणों में।

जैसे किसी ने पसलियों में कोहनी मार दी हो।

झट से उसने गीता को ऊपर उठाकर अपने हृदय से लगा लिया।

गीता वहां से चल दी।

थोड़ी ही देर बाद नीचे से तांगे वाले ने पुकार मचाई।

वह बाहर निकला ही था कि मालकिन से साक्षात हुआ। उन्होंने भी उसे रुकने का बहुत अनुरोध किया, बहुत समझाया, बहुत कुछ कहा, पर उमा ने अपनी विवशता प्रकट कर दी—'यहाँ, अब तक का ही अन्न-जल था हमारा। हमारी प्रत्येक गति-विधि अदृश्य हाथों द्वारा निर्धारित की गई है। उसका एक भी अक्षर नहीं बदलता। आपके स्नेह और माँ के वात्सल्य से वंचित हो रहा हूं। यही एक दुख है मुझे। आपकी अनुकम्पा का सदा ऋणि रहूंगा मैं। शहर नहीं छोड़ रहा हूं अतः बीच-बीच में मुझे आपकी शीतल, सुखद छाया प्राप्त होती रहेगी—यही क्या कम सौभाग्य की बात है मेरे लिये?·········गीता को अच्छी तरह रखियेगा, यही मेरी विनती है आपसे।'

थोड़ी दूर पर, एक कोने में सुशी गीता से लिपट-लिपट कर रो रही थी, मानो अब फिर कभी न मिलेंगी। सुशी एक प्रकार से इस परिवर्तन के लिये स्वयं को ही दोषी ठहरा रही थी। और इसीलिए, उसे और भी रोना आ रहा था।

अन्त में उसने सबसे हाथ जोड़े और विदा ली। उसे सीढियाँ उतरते समय यों लगा, जैसे वह लड़खड़ा कर गिर जायगा।

तेरह

ईला देवी ने सुशी को ताँगे से उतरते ही प्यार किया।

'लो, मैं आ ही गया—' उमा आंसुओं के भीतर से हँसता हुआ बोला। कुछ देर में ही सामान रख दिया गया। उमा को एक ओर बिठा दिया गया और फिर वह स्वयं सामान जमाने में जुट गई। साथ में माइकल था, महरी थी और सुशी। खास तौर से आज उसकी

तत्परता देखने योग्य थी। वह बेहद प्रसन्न दिखाई दे रही थी। जैसे मिन्टों में सारा काम करके पटक देगी, तब ही दम लेगी। यह कैसी विचित्र आत्मीयता थी। उमा निर्निमेष सब देखता रहा।

बीच ही में माइकल चाय और बिस्किट ले आया। उमा ने देखा कि उसके आने से पूर्व ही ईला ने यह सब तय्यारियाँ करके रख छोड़ी थीं।

पूछा उसने—'आप नहीं पियेंगी ?'

'जी नहीं। मैं पी चुकी हूँ। यह आप लोगों के लिये है।'

तो उसने सुशी को बुलाया। महरी को भी पूछा, पर उसने 'ना' करदी। किन्तु उमा ने आधा प्याला चाय उसे ज़बर्दस्ती दे दी। शेष दोनों भाई-बहन ने साझे में पी डाली।

उमा ने फिर एक सिगरेट सुलगाई। जब हृदय में व्यथा कुछ घनीभूत हो जाती है, तो उसे सिगरेट बहुत ही प्रिय हो जाती है।… …वह धुंआ के साथ-साथ कहीं दूर बह गया। मनुष्य अपनों में रहता है तो कितना खुश रहता है और जब उनसे विलग होता है तो उनकी याद फोड़े की तरह कुलने लगती है। नए-नए चेहरे प्रयत्नशील रहते हैं इस प्रयास में कि वे पुराने चेहरों का स्थान ग्रहण करलें और पुराने चेहरे धीरे-धीरे विस्मृत हो जाएं। और वस्तुतः नये चेहरों को ही वो पुराना-सा अपनत्व प्राप्त हो।……दिमाग भले ही इस व्यवस्था को क़बूल कर ले, पर हृदय की 'लॉजिक' इसे स्वीकार नहीं करती।

उमा को मालकिन के यहाँ रहते हुए एक अरसा होने आया था। वह उस परिवार से इतना घुल-मिल गया था कि उसे अपनी माँ तक का अभाव नहीं खलता था। मालकिन के रूप में जैसे उसने अपनी माँ को पुनः पा लिया था। रहते-रहते उसने यह अनुभव किया, जैसे वह उसी परिवार का एक सदस्य है।………

—उमा ने ज़ोर का एक कश लिया।

……परिस्थितियाँ कुछ ऐसी आईं, कि क्षण भर में आमूल परिवर्तन हो गया। यदि वह चाहता, तो कुछ भी नहीं होता। उसने छोटी-सी

बात को इतना तूल दे दिया, ऐसा गम्भीर रूप दे डाला। दुनिया तो यों ही बकती रहती है। दुनिया किसी को अच्छा खाता-पीता देख, सुखी देख, कुढ़ती ही आई है। उसका यह नियम है। फिर वह इस दुनिया के सम्मुख क्यों कायर सिद्ध हुआ? उस वृद्ध विधवा मालकिन को दुर्दिनों में यों अकेली छोड़ भाग आया? जिसने उसे माँ का-सा प्यार दिया, सदैव अपने हृदय के निकट रखा, मातृविहीन होने पर उसे ढाढस बंधाया, नौकरी दिलाने में सहायता की—उसी वृद्ध-देवी स्वरूप नारी की उसने एक न सुनी और पत्थर का कलेजा लिये, उसे छोड़कर चला आया। आदर्श का ढोंग रचता है, और उस पर यह कायरता? इतना भी साहस न हुआ कि ऐसी बेहूदी दुनिया को खुल्लम-खुल्ला कोई मुंह तोड़ जवाब तो देता? चोरों की भाँति अब यहाँ आकर बैठ गया है। डरपोक कहीं का। बुज़दिल। अहसान फ़राभोश!

— उमा ज़ोर-ज़ोर से सिगरेट पीने लगा।

…………गीता ने कितना रोकना चाहा था। कितनी मिन्नतें कीं उसने। कितना रोई थी वह। कैसा हाहाकार मचा था आँखों में………

—उमा ने सिगरेट फैंक दी और उठकर टहलने लगा।

……कसाई। निर्दय।

'लीजिये, सब ख़त्म हो गया।' पल्लू से चेहरे का पसीना पौंछती हुई, ईला मुस्कराती-सी सामने आ खड़ी हुई।

उसके विचारों में झनाक्-सा हुआ। प्रतिध्वनि के समान कोई चीज़ उसके अन्तराल में गूंजी—'हूँ, सब खत्म ही तो हो गया है। बाकी क्या रह गया है? केवल वह ही तो बच रह गया है। और उसे स्वयं का कोई मोह नहीं। हंसकर बोला—'अच्छा हुआ।'

ईला विस्मित-सी देखती रही! स्वर में यह कैसा क्षोभ था?

'अब कुछ आराम करो ईला, बहुत कष्ट दिया है मैंने। जीवन में और किया ही क्या है मैंने अब तक'……वह असन्तोष से भर उठा।

ईला ने लक्ष किया कि उमा के स्वर में वैसी ही कुछ उपेक्षा, वैसा

ही उतावलापन था, जैसा सिनेमा घर पर मिलने के समय था। उसके नेत्रों के सम्मुख कोई आकृति-सी आकर ठहर गई। मूर्त हो उठी। गीता……। वह भीतर ही भीतर चिहुँक उठी।

'यदि इजाज़त दें, तो सुशी को अपने साथ ले जाऊँ ?' गंभीर स्वर में ईला ने पूछा।

उमा इस समय अकेला रहना चाहता था। वह चाहता ही था कि किसी प्रकार ईला वहाँ से चली जाए। झट से बोला—'अवश्य-अवश्य।'

आँखें जल रही थीं और सिर भारी होता जा रहा था। वह पलंग पर जाकर लेट गया। थोड़ी देर बाद ही उसकी आँख लग गई।

उधर ईला ने सुशी को अपने यहाँ ले जाकर, उसके सामने कुछ मिठाइयाँ और नमकीन रख दिया। सुशी ने खाने से इनकार कर दिया।

'क्यों खाओ न !' बहुत ही प्यार से कहा।

'भूख नहीं है।' रुंआ-सी हो, सुशी बोली।

'उदास क्यों हो ?'

'नहीं तो। कहाँ उदास हूँ ?'

'हो तो सही। सच-सच बताओ, क्या बात है ? तुम्हें मेरी कसम, जो छिपाया मुझसे।'

'गीता बहन की याद आ रही है……' उसका स्वर सुबक उठा।

उस पर जैसे गाज गिरी हो। ईला हांफ उठी। जिस बात का उसे संशय था, उसी बात ने उसकी खुशियों को चूर-चूर कर दिया। वह सांस रोके, आवाक् सुशी का मुंह तकती रह गई।

कुछ देर बाद अपने को किसी प्रकार संभाल चुकने के उपरान्त हंसकर बोली—'गीता बहन तुम्हें बहुत अच्छी लगती हैं ?'

'हूँ—' शब्द को खींचते हुए सुशी बोली।

'और मैं कैसी लगती हूँ तुम्हें ?'

सुशी चुप।

इस मौन से ईला का उत्साहित मन फिर से धंस गया । कुछ प्रश्न जो उसने पूछने को छांट रक्खे थे, उन्हें भूल गई ।

'तुम्हारे भैया नौकरी पर नहीं जाते ?' उसे प्रश्न आद आया ।

सुशी ने संक्षेप में नौकरी छोड़ देने की बात सुना दी ।

फिर सुशी ने स्कूल और पढ़ाई इत्यादि के बारे में पूछा । सुशी ने बता दिया ।

फिर पूछा घर छोड़ देने का कारण । सुशी ने कुछ नहीं कहा ।

बीच ही में कहा—'कुछ तो खाओ न......।'

'धन्यवाद ।' इतना ही बोली वह ।

कुछ देर बाद बोली—'अब जाऊँगी ।'

'मैं साथ चलूं ?'

'नहीं, मैं पहुँच जाऊँगी । यह क्या रहा, पड़ौस ही में तो है ।'

वह चल दी ।

ईला खोई-सी न जाने क्या-क्या सोचती बैठी रही । वह अपने को बहुत ही कमज़ोर अनुभव कर रही थी । गीता के सम्मुख जैसे वह कहीं नहीं टिक पा रही हो । उसे स्वयं का वास्तविक ज्ञान हो रहा था । बच्चे तक जिससे इतना हिल-मिल जायें, वह खुद कितनी मोहिनी होगी । उसका हृदय कितना सुन्दर होगा ।......वह अनमनी-सी हो गई । क्षोभ और झुंझलाहट से वह भर उठी । उसने थकान-सी अनुभव की और पलंग पर जाकर लेट गई । कुछ हल्का-सा शारीरिक परिश्रम और कुछ मानसिक तन्तुओं का खिचाव, उसे झपकी-सी आ गई ।

दोपहर ढलने पर उसने एक साड़ी छांट कर पहनी और उमाकान्त के यहां पहुंची । सुशी से पता चला कि वह बाहर गये हुए हैं । उसे ठोकर-सी लगी । कुछ देर सुशी से इधर-उधर की बातें करने के पश्चात वह निर्जीव-सी लौट आई ।

वायुमण्डल से दिन का प्रकाश विलीन हो रहा था । एक सन्नाटा-सा तनता चला आ रहा था, जिसे वह अत्युक्त सीमा तक गहरा अनुभव

कर रही थी। हवा सांस रोके खड़ी थी। प्रत्येक वस्तु अपने आपको उससे छिपाती प्रतीत होती थी। उसने उन चीज़ों से विलग हो जाना चाहा। उसकी आत्मा पर एक भार-सा था। वह नीचे धंस रही थी। नीचे, वह एक विचित्र-सी आशा से अवलम्बित थी और चारों ओर वीरानी छाई हुई थी।

चौदह

पूर्व दिशा ऊषा की मनोरम ज्योति और अरुण की लालिमा से रंग गई थी। उमा बैठा था अपने कमरे में। उसने सरसरी निगाह से कमरे में टंकी तस्वीरों की ओर देखा। बहुत ही कम तस्वीरें थीं। पहली—किसान की, जिसे आज का प्रकृति-विरोधी समाज असभ्य, दरिद्र और अशिक्षित कह उठता है। वह किसान निर्निमेष देख रहा था—दूर आकाश को, मानो उसने अपने जीवन की कमाई उस नीले आकाश की गहरी तह के नीचे, किसी अज्ञात तहखाने में रख छोड़ी हो। पास ही उसके, उसकी फूस-निर्मित झोंपड़ी थी। पास ही, चिथड़ों में अर्द्धनग्न-सा उसका ही कोई बालक खड़ा था। तस्वीर के नीचे लिखा हुआ था—अन्नदाता।

और तस्वीरें थीं—देश के नेताओं की। कुछ 'आइल-पेन्टिंग्स' थीं—लैंडस्केप की। कमरे में थोड़ा-सा सामान था—जिसमें अधिकतर पुस्तकें थीं। अर्द्ध चेतनावस्था में उसने उनमें से एक को उठा लिया। महात्मा टालसटाय की 'क्या करें ?'

उसने उसी अवस्था में पढ़ा—'जिसके पास दो कोट हैं, वह एक कोट उसे दे दे, जिसके पास एक भी नहीं है। और जिसके पास भोजन है, वह भी ऐसा ही करे।......'

उमा के होठों पर एक फीकी मुस्कान फैल कर रह गई।

उसने किताब को पट् से बन्द कर दिया और लेट गया। लेटकर

सोचने लगा—स्वयं पर ।……उसका भी जीवन है कोई ? जीवन का परिहास हो कोई । फिर क्या वह ऐसा ही जीवन जिये चलना चाहता है ?

……उसे कुछ करना ही चाहिये । यों कब तक चलेगा ? कितने दिन हो गये नौकरी छूटे । नौकरी तो वह अब नहीं करेगा । उसने दूसरी ओर करवट लेली ।

कोने में टंकी एक तस्वीर पर उसका ध्यान गया । एक वृद्धा अपनी सूखी उंगलियों से चरखा कातने में तल्लीन थी । नीचे छोटे-छोटे अक्षरों में लिखा था—'तांत और चरखा देश के प्राण हैं ।'

उसने लिखी हुई बातों को दोहराया—एक बार, दो बार, कई बार । उसकी आँखें खुशी और ज्योति से चमक उठीं । जैसे बंद द्वार सहसा खुल गये थे । ऐसा होते ही उसने अपने में एक नई स्फूर्ति अनुभव की । वह 'प्रोग्राम' बनाने बैठ गया ।

कुछ ही दिन में उसने ग्राम सेवा संघ स्थापित कर लिया । संघ के दफ़्तर में ही रखा गया । उमा के कुछ-एक साथियों ने उसमें सम्मिलित होकर योजना को प्रोत्साहित किया । कुछ एक बड़े-बड़े लोगों से उसे आर्थिक सहायता मिली । काम द्रुत वेग से होने लगा । संघ की चर्चा फैलने लगी । संघ का प्रधान कार्यकर्त्ता उसे ही चुना गया । हृदय में नई स्फूर्ति थी और शरीर में नये साहस का संचार ।

कुछ-एकने इसे केवल आदर्श का एक ढोंग समझा—केवल मूर्ख दिमाग़ की उपज । तो बहुतों ने उसके परिश्रम और सत्यनिष्ठा पर विश्वास किया और उसके निःस्वार्थ सेवा-भाव की सराहना की । कार्य-कर्ताओं की संख्या बढ़ने लगी । धन की अपील की जाने लगी । लोग उमा के दृढ़ निश्चय और इस सुकार्य के लिए सहायता देने में संकोच नहीं कर रहे थे ।

एक दिन शहर की गली-गली में, यहाँ तक कि आस-पास के शहरों और गांवों में विज्ञापन चिपक रहे थे । उन्हें लोग साश्चर्य पढ़ रहे थे—

ग्राम सेवा संघ ।

प्रत्येक सर्व साधारण के लिए खुला हुआ द्वार। उजड़े हुए, दलित ग्रामों तक उनकी पहुंच।

उनकी सहायता, निर्माण और पुनरुद्धार का एक मात्र सुदृढ़ केन्द्र।

स्वदेशी उद्योग-धंधों का संगठन।

संगठन और मानवता के नाम पर सबको गले लगाने वाला और कुरीतियों का शत्रु—ग्राम सेवा संघ।

दूसरे दिन दूसरे हैंडबिल्स निकले—

सबको समान समुन्नति का सुयोग। अवांछनीय ऊंच-नीच, अमीर-ग़रीब आदि दूषित भावों का दूरी करण।

कृषि की उन्नति के उपाय और मजदूरों की समस्याओं का हल।

किसान अन्नदाता हैं। शिक्षा, संस्कृति और कलाओं का ग्रामों में पुनरुद्धार और संरक्षण रचनात्मक कार्य।

शहर में सुरसुरी-सी फैल गई। चारों ओर संघ चर्चा का विषय बन गया। संघ देखने लोग आने लगे। उमा से बातें करने पर उन्हें सुख और सन्तोष प्राप्त होता। विश्वास जागता। कोई धन की सहायता देता था, कोई वस्त्र और पुस्तकें दान करने का वचन देता। कोई औषधियों और सूत की सहायता का विश्वास दिलाता।

उमा भूख, प्यास, कष्ट, थकान—सब कुछ भूलकर काम में जुट गया था। वह कार्यकर्ताओं को हिम्मत बढ़ाता, उन्हें विश्वास दिलाता कि सेवा ही सबसे ऊँचा धर्म है।

आस-पास के गांवों में कार्यकर्ता घूम-घूम कर सूत बांटते, औषधियां बांटते, उन्हें उपदेश देते। उमा के सहयोग से उनमें नवीन बल, उत्साह और प्रेरणा निरन्तर बनी रहती। और दूसरे लोग भी उसकी लगन, कार्यक्षमता और सेवा से वशीभूत होकर उसका आग्रह टालने का साहस नहीं कर पाते थे, बल्कि उसका अनुसरण करने की बात पर गंभीरता से विचार करने लग जाते थे। गाँवों में उसके यदा-कदा दौरे

उसके नेतृत्व और कर्म-वीरता के प्रतीक थे। धीरे-धीरे लोगों का उससे सच्चा स्नेह और मोह पैदा होने लग गया था।

देखते-देखते लगभग एक महीना होने आया।

वह अक्सर यही कहता—अभी तो प्रारम्भ है। अभी हमें बहुत कुछ करना है। हमारा क्षेत्र विस्तृत है और हमें इस सेवा-कार्य को उत्कर्ष तक पहुँचाना है। जिस दिन यह कार्य हम सब मिलकर सानन्द सम्पन्न करेंगे, तभी चैन की सांस ले सकेंगे अन्यथा नहीं—!

वह साहसी, स्वतन्त्रता का उपासक, अनथक परिश्रमी, हंसमुख युवा ग्रेजुएट छाती में सेवा की लगन लिये, ग्रामोद्धार का उद्देश्य अपने सम्मुख रखकर ग्रामीणों के उत्थान के लिये उस चौड़े कार्य-क्षेत्र में अग्रसर हो रहा था।

वह अनिश्चित समय पर घर आता और पता नहीं कब छू हो जाता—ईला जान ही न पाती। कई बार तो आफ़िस में ही सो जाता। सुशी ईला के पास सो जाती।

एकाध बार उसका साक्षात् उमा से हुआ भी, किन्तु अजीब व्यस्तता के साथ वह तेज़ी से चल दिया। वह केवल उसे देखती रह गई थी। उस समय उसका दिल सीने में कहीं रुक गया था। पर उमा को फ़ुर्सत कहां? उपेक्षा और अवहेलना के भाव से वह पराजित और तिरस्कृत-सी केवल खड़ी रह गई थी।......मानो सोचती बैठी हो कि बाह्य रूप से दीख पड़ने वाला ऐसा सुन्दर हृदय क्या भीतर से इतना निर्मम और पाषाण हुआ करता है? वह हृदय क्यों नहीं पसीजता आख़िर?

उमा के माथे पर बदहवास-सी शिकनें देखकर, उसे थकान में चूर और जर्ज़र देखकर, उसकी भाग-दौड़ और परिश्रम का अन्दाज़ा लगाते हुये, वह मन ही मन द्रवित हो उठती। उसका अपना मन उमा के कामों में थोड़ा-बहुत हाथ बंटाने को व्यग्र हो उठता। काश, वह उनके कुछ काम आ सकती। पर वह तो सदा मन मसोस कर ही रह गई।

ईला उसकी ओर आकर्षित है—इस बात से उमा अनभिज्ञ न था।

दरअसल बात यह थी कि वह खुद को आकर्षण के उस केन्द्र से तटस्थ रखना ही श्रेयस्कर समझता था। वह सदा अपने को बहुत ही निर्बल और विवश पाता था। क्योंकि मूलतः यह जीवन का एक संजीदा प्रश्न था, जिसका अन्त ज़रा-सी असावधानी के कारण जीवन की होली भी हो सकता था। वह सदा उसकी निकटता से डरता आ रहा था।

ईला के बनाव-श्रृंगार से उसकी आँखें चौंधिया न गई हों; उसके उमड़ते हुए यौवन से उसका दिल जगह न छोड़ देता हो; उसकी काली आँखों की अथाह गहराइयों में वह डूब-डूब न गया हो; उसके पतले गुदाज़ और थरथराते होठों में उसके अपने प्यासे होठ प्यास बुझाने को लालायित न हो उठे हों, उसकी उंगलियां उसके रेशम जैसे मुलायम घने बालों में खेलने के लिये तत्पर न हो उठी हों और उसका शिक्षित मन उसके शिक्षित मन से जुड़कर एक अटूट संधि की योजना पर मचल न उठा हो—सो बात नहीं। वह भी एक इन्सान ही तो था, दूसरे कमज़ोर इन्सानों की तरह। पर कहा न, उसने ऐसी परिस्थिति को अधिक देर के लिये कभी उत्पन्न ही न होने दिया। यदि ऐसा अवसर आने को हुआ भी, तो इससे पहले कि ईला के रंगीन भावों का गुलाबी मादक रंग उस पर चढ़ जाय, वह वहां से तिरोहित हो जाता।

कई बार वह सोचने पर बाध्य हो जाता कि ईला के पड़ौस में यह मकान लेकर, उसने ठीक नहीं किया। जल्दबाज़ी का उसका यह फैसला जैसे शुभ नहीं हो। यदि रहना ही था, तो कहीं और रह लेता। फिर सोचता कि जो कुछ हो गया है, अब उसका पछतावा भी क्या? अब यदि उपाय है तो यही, कि जहां तक हो वह खुद को ईला के सम्पर्क से पृथक रखे। इसी में दोनों का कल्याण था।

उसने कई बार मार्क भी किया कि उतनी उपेक्षा के बावजूद भी ईला ने स्पष्टतया: कभी बुरा नहीं माना, कोई मन-मुटाव न रखा, किसी प्रकार का कोई मान नहीं जताया। उसने उसके यहां आना कभी बन्द नहीं किया, उसका उत्साह कभी बुझा नहीं। जब भी दिखी—सरल भाव से, हंसती और खिली-खिली। खुली किताब की तरह। चाहे भीतर

कुछ भी भभकता रहा हो, कुछ भी टूटता रहा हो चुपचाप ! बहुत हुआ तो तनिक गंभीर-सी दिखाई दे गई कभी। इसके लिये उमा मन ही मन आभारी था उसका।

पर उसके उस प्रेम-भाव की वह रक्षा करे, उसे सुरक्षित रखे—इस स्थल पर आकर, उमा अपने को सदा दुर्बल और अयोग्य पाता रहा।

कभी-कभी, रात में जब वह अकेला होता तो गीता की याद टीस की तरह उठती, दिन में तो संघ के कामों में व्यस्त रह कर वह भुलाने की भरपूर चेष्टा करता था किन्तु काम की व्यस्तता में भी कई बार वह याद व्यग्र होकर उठती।

एक ओर यादों के घेरों में मूर्त हो उठने वाली गीता। दूसरी ओर-तमन्नाओं और आकर्षण की बाहें फैलाये ईला। मानो दो सरहदें थीं, जिन पर वह खुद अपने से ही लड़ रहा था। एक मौन, मूक द्वन्द्व।

पन्द्रह

सांझ का धुंधलका बढ़ता जा रहा था। गीता और दिनों की भांति छत पर बैठी, निर्निमेष हिलती-डुलती दुनिया को देख रही थी, विचारों के अम्बार से दबी। भारी, बोझिल पलकों से। अर्द्धसुप्त-सी।

सहसा दो हाथों ने उसकी आँखों को पीछे से मूंद लिया। उसने चौंक कर हाथों पर अपने हाथ फेरे। किसी अज्ञात सुखमयी आशा और जिज्ञासा की लहर उसकी देह में फैल गई। एकाएक चूड़ियां आगई हाथ में। मन जैसे डूब गया। काल्पनिक, सुखद आशायें तत्काल मर गईं।

चन्द्रमुखी खिलखिला कर सामने आ गई—'क्या भाभी, अपनों को ही नहीं पहचानतीं ?'

गीता का चेहरा विवर्ण हो उठा। जैसे हृदय का विद्रोह वहां आकर स्थिर हो गया हो।

'परीक्षा के बाद तुम तो ऐसी छिपीं कि······अब तुम्हें क्या कहूँ।'

'मन में क्यों रखती हो, कह डालो न।' गीता सूक्ष्म मुस्कान में बोली।

'खैर हटाओ, हमने माफ़ किया।'

'धन्यवाद।'

'आखिर आज, कुछ सोच, हम ही चले आये।'

इस 'हम' से चन्द्रमुखी का क्या आशय ?

'अच्छा, अब उठो। नीचे और मेहमान भी हैं।' चन्द्रमुखी ने गीता का हाथ पकड़ कर उसे उठाते हुए कहा।

मेहमान ? हृदय धक-धक करने लगा। प्रश्नसूचक दृष्टि से उसने चन्द्रमुखी की ओर देखा।

मैं नहीं बताने की। चलकर खुद ही देख ले न।' चन्द्रमुखी शोख हंसी हंस पड़ी।

ज़ीने से उतरते हुए उसने गीता के बांये हाथ में चुटकी भरी और कान के पास अपना मुँह ले जाकर धीमे से बोली—'किस्मत का फैसला होने जा रहा है तुम्हारा। मुबारक हो भाभी।'

सब कुछ समझ गई गीता। पैरों को किसी प्रकार घसीटते हुए उसने कमरे में प्रवेश किया।

निरंजन कुमार बैठे थे अम्मा के पास। छाती में कहीं दिल रुक गया। उससे और कुछ नहीं बन पड़ा, केवल हाथ जोड़ लिये। निरंजन ने प्रफुल्ल मुस्कान के साथ नमस्ते की और सिर नीचा कर लिया।

'चलिये, माताजी। माँ राह देखती होंगी।' चन्द्रमुखी ने अम्मा को जल्दी से तैयार हो जाने का आग्रह किया। फिर मुड़कर गीता से बोली—'और तुम भी भाभी······।' गीता के काटो तो खून नहीं। वह जल्दी से एक ओर कमरे में चली गई।

गीता ने मन ही मन सोचा—तो यह लोग देर से आये हुए हैं और माँ ने इन्हें जलपान आदि सब कुछ करा दिया है।

इस समय ना करते नहीं बन पड़ेगा, अतः वह कुछ देर में तैयार होकर आ गई।

उसने सफ़ेद साड़ी पहनी थी। निरंजन ने उसे देखा तो उसका मन अनुपम उल्लास से भर उठा।......सीधी-सादी, आदर्शपूर्ण और स्त्री-जनोचित लज्जा से संवरी गीता आंखें झुकाये खड़ी थी। कैसी मनमोहक छवि थी। अनुपम सौन्दर्य से लदी, किसी कुशल शिल्पी की प्रस्तर प्रतिमा हो जैसे।......उसे पा लेने के लिये निरंजन के हृदय में एक प्रबल हूक उत्पन्न हो गई।

थोड़ी देर बाद, वे सब वहां से निरंजन की कार में चल दिये।

गीता को चन्द्रमुखी अपने कमरे में ले गई। निरंजन अपने कमरे में चला गया। मालकिन को मनोरमा देवी ने अपने पास खींचकर नीचे ही बिठा लिया। कुछ देर की औपचारिक बातों के पश्चात् मनोरमा देवी ने अपना मन्तव्य स्पष्ट कर दिया—'मेरा निरंजन, तुम्हारी गीता।'

मालकिन ने निरंजन को देख रखा था। लड़का सुन्दर, शिक्षित और सुशील था। बैरिस्टर साहब का यह ख़ानदान उससे अपरिचित नहीं था। मनोरमा देवी की प्रकृति और व्यवहार से भी वह अनभिज्ञ न थीं। जब पति ज़िन्दा थे तो उनकी भी बैरिस्टर साहब से खूब पटती थी। वह चले गये, किन्तु मनोरमा देवी उन्हीं पुराने सम्बन्धों को आज फिर से जोड़ने का यत्न कर रही थीं।

नौकर जल-पान रख गया!

'गीता को मैंने कभी से छांट रक्खा था। आपसे कहने भर की देर थी। सो आज कह दिया। वह मेरी ही होकर रहेगी।' मनोरमा देवी प्रसन्न मुद्रा में बोलीं।

'गीता को मैंने कब तुम्हारी नहीं समझी बहन ? मैं तो खुद उसके पीले हाथ करने की सोच रही थी पिछले कुछ दिनों से।' मालकिन ने बालूशाही खाते हुए कहा।

'तो बस, ठीक है। बात पक्की हो गई। मेरे मन का बोझ उत्तर गया'—मनोरमा देवी हर्ष से दमकती हुई बोलीं— 'जो भी मुहूर्त ठीक होगा, उसकी खबर मैं तुम्हें भिजवा दूँगी।'

यहां मालकिन का हाथ प्लेट पर रुक गया। वह सोच में पड़ गई। ···गीता पितृविहीन है। वह ही उसकी अब सब कुछ हैं। उससे इस सम्बन्ध में विचार-विमर्श करना भी ज़रूरी है। एक मात्र लड़की है उसकी। प्राणों से भी प्रिय। पूछना तो होगा ही—उसकी क्या राय है ?

'क्या सोचने लगीं बहन ?' मनोरमा देवी ने मालकिन को सोच में पड़ा हुआ देख, उत्सुक होकर पूछा।

'कुछ नहीं, सोच रही थी कि इस मामले में मुझे गीता से भी पूछ लेना ठीक होगा।' अब मालकिन जैसे कुछ स्वस्थ हुई हों।

बात सुनकर मनोरमा देवी खिलखिला पड़ीं— 'कैसी बात करती हो बहन ? गीता, और ना करेगी ? मैं गीता को जानती हूँ। फिर भी···' अपनी हँसी को रोकते हुए वह बोली—'यदि तुम चाहो तो उससे भी ज़रूर पूछ देखना। फ़र्ज़ भी है तुम्हारा।

'हाँ, फिर मैं खबर कर दूँगी—' एक सांस में मालकिन बोल गईं। डूबते को जैसे एकाएक कोई सहारा मिल गया हो।

कुछ देर बाद निरंजन वापस उन्हें अपनी कार में छोड़ आया।

सोते समय मालकिन ने बात चलाई—'जानती हो बेटी, निरंजन की माँ ने मुझे आज क्यों बुलाया था ?'

'जानती हूँ, माँ।' गीता को ज़ोर-ज़ोर से साँस आने लगी।

'तुम्हें यह रिश्ता पसन्द है बेटी ?'

'माँ, मैं अभी—'कण्ठ सूख गया ।

'लड़का अच्छा है । इतना अच्छा घर-बार है । ऊँचा खानदान । हँसमुख ननद । स्नेहशील सास । इससे अच्छा क्या कुछ हो सकता है बेटी ?'

'पर माँ, मैं......' उलझन में पड़ी थी वह । बीच भँवर में पड़ी थी वह । कहीं कोई कूल-किनारा नहीं । 'ना' बोलती तो माँ का दिल लहू-लुहान होता था और 'हाँ' बोलती तो......। वह 'हाँ' की कल्पना मात्र से ही काँप उठी ।

लड़की को जब माँ-बाप अधिक दिन घर में अपने पास बिठाये रखते हैं तो दुनिया बुरा कहती है, बेटी—' स्नेहपूर्ण स्वर में मालकिन उसे समझा रही थीं—'माँ-बाप कब चाहते हैं कि वे अपने जिगर के टुकड़ों को यों अलहदा कर दें, पर संसार का यही नियम है, बेटी । लड़की पराया धन होती है......'

गीता के मन में कोई चीज़ उठ और गिर रही थी ।

'फिर तेरे बाप थोड़े ही है बेटी...' मालकिन का स्वर काँप उठा... 'मुझे तेरी चिन्ता नहीं होगी तो फिर सोच, किसे होगी ?'

'माँ · ' यह हल्की पुकार जैसे कलेजे को चीरती हुई निकली हो ।

मालकिन की आँखें सजल हो आईं ।

'माँ, आपके मैं हाथ जोड़ती हूँ । मुझे थोड़ा और पढ लेने दो । अभी मैं शादी-वादी के झंझट में नहीं पड़ना चाहती माँ । मुझे इस झंझट से बचाये रखो माँ, तुम्हारा उपकार मानूँगी—सच ।' वह अपनी माँ की गोद से मुँह छिपा कर सुबक पड़ी ।

बच्चे की तरह वह फूट-फूट कर रो रही थी । मुँह गोद में छिपा था माँ के । वही एक मात्र मालकिन की सन्तान थी, उनकी एक मात्र अभिलाषा । उनके वृद्ध, अंधेरे जीवन की ज्योति, इस सूने घर की रौनक, उनकी जिन्दगी ।

'एक साल और पढलूँ माँ ।' आगे और पढाओ तो इच्छा है तुम्हारी ।

फिर चाहे जो करना मेरा । कुछ न कहूँगी । सच कहती हूँ, कुछ न कहूँगी । वह उसी तरह बिलख रही थी ।

मालकिन ने तब उसे गोद में खींच, छाती से लगा लिया । दूसरे रूप में अभी उसकी शादी नहीं करने का आश्वासन दे दिया ।

'मेरी अच्छी माँ !' गीता पुनः अपनी माँ से लिपट गई ।

'अच्छा, अब सो जा ।' प्यार से उसके आँसुओं को हाथ से पोंछते हुए मालकिन ने कहा । दूसरे दिन मालकिन ने मनोरमा देवी के यहाँ यह खबर भिजवादी कि अभी गीता की इच्छा लगभग एक साल और पढने की है, तब तक यही उत्तम होगा कि बात को उतने समय तक स्थगित कर दिया जाय । बात को अन्यथा न समझी जाय ।

मनोरमा देवी सहर्ष सहमत हो गईं ।

सोलह

गीता फ़स्र्ट डिवीज़न से पास ! गीता फ़स्र्ट डिवीज़न !!—उमा खुशी से पागल हो, चिल्लाया और हाथ के समाचार पत्र को सामने की मेज़ पर फैंकते हुए संघ के दफ्तर में अधीर होकर टहलने लगा ।—'तुम पास हो गईं गीता । यह देखो .....यह देखो । फ़स्र्ट डिवीज़न मिला है तुम्हें, बधाई गीता । बधाई ।' अखबार पर झुका, वह अकेला ही खुशियाँ मना रहा था, खुद से बोल-बोलकर । कोई साझीदार नहीं था उसका । खुशी से उसकी आँखें छलक उठीं थीं ।

थोड़ी देर बाद वह अख़बार लिये सुशी को यह खुश खबरी सुनाने भागा ।

खबर सुनकर सुशी नाचने लगी—फिरकनी की तरह । फूली नहीं समा रही थी वह । ईला भी उस समय वहीं बैठी थी । आज कितने दिनों बाद उसने उमा को इस कदर खुश देखा था ।

मचलते हुए सुशी बोली—'कहो तो यह खुशी की खबर गीता बहन को दे आऊँ ? गीता बहन को देखे हुए भी बहुत दिन हो गये हैं। जाऊँ भैया ?'

'अरी फौरन जा। मेरा मुँह क्या देख रही है अब तक ?' उमा को मारे खुशी के कुछ नहीं सूझ रहा था। महरी को साथ लेती जाना……' यह कहता हुआ, उमा वहाँ से भाग छूटा। केवल उसकी आवाज़ की गूँज रह गई, ईला के हृदय से टकराती-सी। थोड़ी देर बाद वह वहाँ से उठकर चल दी……।

अचानक, यों जो सुशी को अपने यहाँ दौड़ी-दौड़ी आते देखा तो गीता को एकाएक विश्वास ही न हुआ। वह भागकर सुशी से लिपट गई। खुशी से आँखें भीग गईं दोनों की।

'तुम्हें फर्स्ट डिवीज़न मिला है दीदी। वही खबर देने मैं दौड़ी-दौड़ी आई हूँ। भैया ने मुझे दौड़ाया ताकि तुम्हें फौरन खबर दूँ ? तुम्हें बहुत-बहुत बधाई दीदी।'

'अरी, स……च ?' खुशी से चीख पड़ी गीता।

'विश्वास न हो, तो आँखों से देख लो। फिर तो मानोगी ?' यह कह, सुशी ने महरी के हाथ से अखबार लेकर उसके सामने कर दिया—'यह देखो……। अब तो विश्वास हुआ ?' वह उसके नाम पर उँगली रखे हुई थी।

झुक कर उसने सुशी का मुँह चूम लिया और फिर वह अम्मा को यह खबर सुनाने भागी। पीछे-पीछे सुशी और महरी थी।

मा का मन हुआ कि ऐसी खुशखबरी लाने वाली सुशी का मुँह वह सोने से भर दें, उसे गोद में उठाये-उठाये फिरें, या फिर क्या करें। उन्हें कुछ सूझ न रहा था।

'तुम्हें कैसे मालूम हुआ सुशी ?' गीता ने गद्‌गद् स्वर में पूछा।

'अख़बार लिये भैया संघ के दफ्तर से दौड़े-दौड़े आये और मुझे

बताया । उफ, आज कितने खुश थे भैया—मैं बता नहीं सकती दीदी । फिर मुझे फौरन यहाँ भेजा । और हाँ, उन्होंने भी आपको बहुत-बहुत बधाई भेजी है ।·········क्या दीदी, आपने अभी तक हमारा मीठा मुँह भी नहीं किया ?'

गीता बात पर हँस पड़ी । मालकिन मिठाई का बन्दोबस्त करने भागीं ।

गीता ने सुशी को दुबारा चूमा और फिर खींचकर अपनी गोद में बिठा लिया । चन्द्रमुखी का रिज़ल्ट देखना तो खुशी ही खुशी में भूल गई थी । वह तो सुशी ने याद दिलाई । दोनों ने जल्दी से जाकर अखबार देखा । वह सैकण्ड डिवीज़न से निकल गई थी । सन्तोष की साँस ली गीता ने, और अखबार एक तरफ रख दिया ।

उसके जी में आ रहा था कि वह मास्टरजी के पास उड़कर पहुँच जाय । उड़कर ।

'मास्टरजी अच्छी तरह तो हैं ?' गीता ने उत्सुक होकर पूछा ।

'हाँ । संघ के काम की इतनी मारा-मारी है कि परेशान से रहते हैं·········'

'कोई बात नहीं सुशी । ग्राम सेवा एक नेक काम है । हर एक ऐसे कष्ट के काम को कर भी नहीं सकता । हमें तो उन पर गर्व करना चाहिये ।······लो, माँ आ गईं, अब तुम मुँह मीठा करो ।'

मालकिन ने बहुत ही प्यार के साथ एक पेड़ा पहले सुशी के मुँह में रखा और बाद में गीता के । गीता ने अपनी ओर से प्लेट में से एक पेड़ा उठाया और माँ के मुँह में रख दिया और दूसरा सुशी के । इसके बाद दूसरा । फिर तीसरा ।······सुशी हार कर वहाँ से भाग छूटी ।

इसके बाद प्लेट की बची हुई मिठाई मालकिन ने महरी की ओर बढ़ा दी । अब गीता ने बहुत ही अनुरोधपूर्ण स्वर में माँ से कहा—'माँ, तुम कहो तो मास्टरजी के यहाँ हो आऊँ ?'

मालकिन के कुछ देर तो समझ में नहीं आया कि क्या कहे।

'जल्दी ही आ जाऊँगी माँ······' बहुत ही याचनापूर्ण स्वर था।

'भेज दीजिये न अन्टी जी।' सुशी ने भी आग्रह किया।

'मैं आकर छोड़ जाऊँगी।' महरी ने जैसे उस चिन्ता से मुक्त करना चाहा।

'इतना सब कुछ कहने की ज़रूरत ही नहीं, मैं क्या समझती नहीं ? यह सब उमा के परिश्रम का ही तो फल हमें देखने को मिला है। उन्हीं के पास जाकर यदि गीता आभार प्रदर्शन नहीं करेगी तो किसे करेगी ? आज ही तो वह दिन आया है······' मालकिन ने जैसे यह बात सबको सुनाकर कही हो।

गीता को मानो भगवान मिल गया।

उसने जल्दी से थोड़ी मिठाई बाँधी अपने साथ, और फिर कपड़े बदल कर सुशी और महरी के साथ चल दी।

'मुझे सदा तुम्हारी याद आती थी।' रास्ते में सुशी ने कहा।

'मेरा भी यहां हाल रहा !'

'कालेज खुल जायगा तो रोज़ ही मिला करेंगे।'

'हाँ······' गीता ने कहा—'कुछ-एक दिन की बात और है।'

'हाँ।'

'मकान कहाँ लिया है ?'

'सरदारपुर में······' सुशी को नीरव देखकर महरी बोली।

'ओ······'

'बस, अब तो थोड़ी ही दूर है।'

'ओ।' अपने आप ही धड़कन बढ़ने लगी।

जैसे ही गीता ने कमरे की चौखट पर कदम रखा, उसने देखा—मास्टर जी कुछ लिखने में व्यस्त थे। पास कोई नहीं था। कागज़ बिखरे हुए थे। दुर्बल-दुर्बल दिखाई दे रहे थे। आज कितने दिनों बाद वह उन्हें देख पाई थी। उसकी आँखें नम हो आईं।

'भैया, देखो गीता बहन को मैं पकड़ लाई।' सुशी किलक उठी।

'गीता' नाम सुनते ही उमा ने चौंककर दरवाज़े की तरफ देखा। फिर उठा, और लपककर दरवाज़े की तरफ बढ़ा। तीर की तरह गीता मास्टर जी की छाती से जाकर लिपट गई। उमा ने कसकर उसे पकड़ लिया कि यह गीता कहीं फिर से न छूट जाय।

'गीता!' वह आत्मविस्मृत-सा इतना ही बोल पाया।

'जी......' कण्ठ अवरुद्ध हो गया था।

तो फिर पुकारा—'गीता।' जैसे इसी सुधा से लिपटे और घनी आत्मीयता में डूबे स्वर को आज इत्ते दिनों बाद फिर से सुनने के लिये ही उसने उसे सम्बोधित किया था।

वह उसी प्रकार, फिर से बोली—हौले से......'जी......'

और फिर साड़ी के कोने से आँखें पौंछी उसने, और फिर झुककर मास्टरजी के चरणों को स्पर्श किया उसने।

उमा ने उसे जल्दी से उठा लिया और फिर बैठ जाने के लिये कहा।

वह एक ओर बैठ गई पलंग के किनारे पर।

'फर्स्ट डिवीज़न पर मेरी हार्दिक बधाई तुम्हें .....!'

'यह सब आप ही का प्रताप है। शुभाशीष है।' वह लजाती-सी बोली।

'मैं इसे स्वीकार नहीं करता। सारा श्रेय तुम्हारे अपने परिश्रम को है।'

'और मैं इसे स्वीकार नहीं करती।' धीरे से गीता ने प्रतिवाद किया।

'अच्छा?' उमा हँस दिया।

कुछ देर बाद पूछा उसने.........'इतनी कमज़ोर कैसे हो गई? तबियत तो ठीक रहती है न?'

'कहाँ से दिख रही हूँ कमज़ोर आपको? वैसे ही.........?' गीता उड़ गई।

'सच बताओ। क्या बीमार रहीं इन दिनों?'

'नहीं तो।'

'फिर क्या बात है ?'

'कहाँ कुछ बात है ? हो तो बताऊँ।'

'अच्छा खाओ सौगन्ध।'

'मेरी सौगन्ध।' वह तुरन्त बोली।

'नहीं, मेरी सौगन्ध खाओ'—आग्रह किया उमा ने।—यह मास्टरजी भी कैसे हैं, ऐसी-ऐसी बात पूछते हैं, जो सीधी हृदय से सम्बन्ध रखती हैं।

सकुचाती-सी बोली—'आप जानते हैं फिर भी पूछ रहे हैं ?'

'जानता तो कभी नहीं पूछता।' उसने सरल भाव से कहा।

'आपके वहाँ से चले आने के बाद, मैं वैसे ही रही जैसे एक जीवित लाश—जैसे……' और आगे स्वर फूट पड़ा।

'यह क्या गीता ? तुमने मेरी क़सम नहीं मानी आखिर ?'—उमा चिहुँक उठा।

पुनः आँसू छलछला आये गीता की आँखों में।

'सच, मैं बड़ा निष्ठुर हूं। एक बार भी तुम्हें पूछने नहीं आ सका।'—कुछ भी कहे जाइये, गीता जानती है, यह सब बहाने हैं।

'संघ के काम में कुछ ऐसा व्यस्त रहा हूं कि स्वयं की भी सुध नहीं। यह देखो, किसानों के आर्थिक उद्धार की योजना पर यह कुछ 'नोट्स' बना रहा था। इन्हीं को लेकर सरकार से अनुमोदन की अपेक्षा रखनी है मुझे। जानता था, कि यह काम दफ़्तर में बैठ कर तो होगा नहीं, इसलिए यहाँ ले आया। आज ही लिखकर स्थानीय 'किसान' के सम्पादक को दे देना है।'

—ऊँह, यह सब कुछ नहीं। गीता की शिकायत के सामने यह सब गौण है।

'मैं सच, बहुत ही लज्जित हूं। क्षमा-प्रार्थी हूँ, गीता।'

'ऐसा मत कहिये........' गीता का गोरा, गुदाज़ हाथ उमा की ओर उसे चुप रहने के हितार्थ उठा।

उमा ने अपने होठों की ओर बढ़ते हुए उस हाथ को पल भर के लिए अपने हाथ में थाम लिया। उस क्षण जैसे बिजली कौंधी हो। दो देह एक-दूसरी से, जैसे किसी चुम्बक से खिंचकर एक दूसरे में लीन हो गई हों। एक दूसरे में अनुप्राणित हो गई हों। उनके पोर-पोर में पुलक पेवस्त हो गई।

फिर एक झटके के साथ, उमा ने गीता का हाथ ढीला छोड़ दिया। चुपचाप ही जैसे कोई चीज़ दोनों के बीच घट गई थी। भीतर ही भीतर जैसे कुछ टूट गया था।

एक दीर्घ निःश्वास फेंकते हुए उमा ने कहा—'आज मैं कितना खुश हूं, बता नहीं सकता गीता। तुम्हारी याद को मैं काम-काज में भुलाने की चेष्टा करता हूँ किन्तु कभी-कभी तो तुम्हारी याद इतनी प्रबल और उग्र हो उठती है कि उसे दबा पाना अपनी सामर्थ से बाहर हो जाता है। मैं—विक्षिप्त-सा हो उठता हूं......।'

बात सुनकर गीता न जाने कैसी हो गई। गर्दन डाले चुपचाप बैठी रही। मन ही मन सोचती बैठी रही—और वह अपना हाल सुनाये तो? उस पर क्या बीती है। उसका दिल कैसा लहू-लुहान हुआ है। यदि उस निरंतर सुलगते हाहाकार की गाथा मास्टर जी को सुनाये तो?......पर उसने अपना तूफ़ान होठों के भीतर ही बन्द रखा।

'मालकिन तो अच्छी हैं?' उमा ने सुशी को उधर आती देख, प्रसंग बदल दिया।

'जी।'

'उन्हें मेरा प्रणाम कहना।'

'जी।'

'आगे पढ़ने का विचार है न ?'

'जी।'

फिर सुशी से कहा—'तूने कुछ खिलायान हीं अपनी दीदी को ? देख, वहाँ आलमारी पर मैंने मिठाई लाकर रखी है। प्लेट में लाकर दे।'

'पर भैया पास तो दीदी हुई हैं। मिठाई इनको खिलानी चाहिए हमें—!' सुशी ने उठते हुए जैसे परिहास किया हो। फिर थोड़ी दूर जाकर मुड़ी और बोली—

'दीदी अपने साथ मिठाई लाई भी हैं। महरी के पास रखी है।'

'अच्छा-अच्छा—' उमा ने मुस्कराते हुए कहा—'तुझे जो कहा गया हैं, सो काम कर। शैतान कहीं की।'

गीता हौले से मुस्कराई।

तत्काल ही सुशी एक प्लेट में मिठाई ले आई।

तुम्हारी सफ़लता और परिश्रम पर तुम्हारा मुँह मीठा तो होना ही चाहिये।' उमा ने प्लेट हाथ में लेकर गीता के सामने रख दी।

गीता ने मनुहार में प्लेट उमा के सामने कर दी। उमा ने आशय ताड़ते हुए, मुस्कराकर एक 'पीस' अपने मुंह में डाल लिया और फिर बोला—'बस, तुम्हारी बात रख दी मैंने। अब तो खाओगी न……?'

गीता ने सहायता के लिए इधर-उधर दृष्टि घुमाकर सुशी को देखा पर वह तो वहाँ से चुपचाप ग़ायब हो गई थी। उस पर गीता दीदी ने उनके घर पर मिठाई के मामले में क्या कम ज़्यादती की थी ? फिर वह कैसे टिकती ?

गीता ने चुपचाप खाना शुरू कर दिया।

बीच में बोली—'ग्राम-सेवा जैसे अच्छे और निःस्वार्थ कार्य का बीड़ा उठाने पर आपको मेरी और माँ की ओर से भी बधाई।'

उमा केवल खुश होकर रह गया।

'जब मैंने आपके वो विज्ञापन—'हैण्डबिल्स' आदि पढ़े तो मैं तो एकाएक डर-सी गई। सोचा, यह कैसा 'अल्टीमेटम' है ?'

उमा को हंसी आ गई।

'माँ कह रही थीं कि १०० चरखों, २० सेर सूत और किताबों आदि की सहायता वह भी संघ को देंगी।'

'उन्हें मेरी ओर से अग्रिम धन्यवाद देना। मैं जल्दी ही उनसे मिलूंगा। दरअसल ऐसे ही उदार हृदयों पर संघ जीवित रहकर अग्रसर हो सकता है। वह कोई चन्द लोगों का निजी काम नहीं है। यह तो संगठित सेवा कार्य है। मालकिन का साहस वास्तव में सराहनीय है......।'

'ऑफिस कहाँ खोला है आपने ?'

'यह क्या रहा ऊषा सिनेमा के पास। उससे जुड़वां। चलो, दिखा दूं।'

'अभी तो चलूंगी, माँ से जल्दी ही लौट आने को कह कर आई हूँ। फिर कभी सुशी के साथ ज़रूर आऊँगी।'

'मैं जो तुम्हारे यहाँ से चला आया था, उस पर तो तुम आज तक मुझ पर बिगड़ी बैठी हो। और अब जो तुम मेरे यहाँ से चले जाने की बात कह रही हो—उसे लेकर मैं क्या करूं गीता ?'

गीता का हृदय उस मीठी बात को सुनकर ढुल गया। सोचा उसने—यह जाते-जाते उसे रुलाने की बात मास्टरजी आखिर क्यों सोच रहे हैं ?

इतने में ईला आ पहुँची।

मुंह जो कड़वा-सा हो गया था, उसे फेर कर गीता बोली—'आज्ञा दीजिये........'

ईला का इस समय अप्रत्याशित आ जाना, उमा को अच्छा नहीं लगा।

गीता का सहसा उसकी ओर ध्यान गया। वह सम्भल गई।

ईला ने हँस कर 'नमस्ते' किया। गीता ने भी प्रत्युत्तर में हाथ जोड़ दिये।—वही ईला। हाँ, वही—जो उस रात सिनेमाघर पर मिली थी !

'सुशी ने बताया कि तुम आई हो, तो सोचा, चलूं, तुम्हारे फर्स्ट डिवीज़न लाने पर तुम्हें बधाई देने का यह अच्छा अवसर है। यही सोच-कर चली आई। कांग्रेचुलेशन्स टू यू।'

'जी, धन्यवाद।' मुस्कराते हुए गीता बोली।

गीता इस बार घबराकर बोली—'अब चलूंगी।'

उमा का साहस गीता की मुख-मुद्रा की ओर देखने का जैसे साहस ही न रहा। बहुत ही धीमे और दबे स्वर में कहा—'अच्छा......' फिर कुछ देर बाद सम्भलकर उसने महरी को आवाज़ दी और गीता के साथ जाने के लिए कहा।

दोनों चली गईं।

रास्ते में अधीर हो, गीता ने महरी से पूछा—'यह ईला क्या यहीं रहती है ?'

'हाँ, पास ही मकान है।'

'क्या मास्टर जी के यहाँ इसका आना-जाना बहुत बना रहता है ?'

'हाँ। जब इच्छा होती है, चली आती है।'

'ओ—' उसका स्वर व्यथित हो उठा।

'यह मकान भी ईला ने ही दिलवाया होगा ?'

'हाँ, उसी ने।'

'ओ—' उसका स्वर ढह-सा पड़ा।

अब आगे कुछ पूछने को शेष नहीं रहा था।

अब तो लहरें इधर-उधर से उठ और गिर रही थीं। और भंवर बन रहा था, जिसमें उसकी भ्रम से लदी नाव अब फंसती चली जा रही थी।

सत्रह

गीता ने रास्ते में फिर महरी से कोई बातचीत न की। वह

ख़ामोश चली जा रही थी । अत्युक्त सीमा तक वह ख़ामोश हो गई थी। कितना बड़ा भ्रम और छलावा—मास्टर जी ईला से………। नहीं-नहीं, ऐसा नहीं हो सकता । तो फिर वह यह मकान छोड़ कर क्यों उसके पास जाकर बस गये हैं ? हां क्यों ? यही कारण हो सकता है, और क्या ? तो इसमें मुझसे छिपाने की कौन सी बात थी ? साफ़-साफ़ कह दिया होता। वैसे भी मेरा उन पर अधिकार ही क्या है ? मैं उनकी हूँ ही कौन ? मुझे यह सब भुलावे देते हुए उन्हें लाज नहीं आती ? यदि मान लिया जाय कि उनका सम्बन्ध नहीं है, तो फिर वह इनके गिर्द सदा क्यों मंडराती रहती है ? वह उसे आने के लिये क्यों नहीं बरजते ? उनके उस नारी-विद्रोह समालोचक मन का एक अविवाहिता, ग़ैर, एक ईसाई युवती से सम्बन्ध ?………

ईला रूपवान भी है । युवा है । निर्जन कमरे में दोनों की मुलाकतें-उफ़, पहले तो मास्टर जी ऐसे नहीं थे । आज भी जब मिले तो उसी निष्कपट भाव से, पूर्ण प्यार से । कहीं भी तो कुछ ऐसा नहीं था, जिस पर तनिक भी सन्देह हो । वह तो अच्छा हुआ, जो उसने खुद अपनी आंखों से ईला को वहां देख लिया, नहीं तो कब बताने वाले थे । वह सदा अंधकार में ही रहती ।………

तभी तो वे एक बार भी उससे मिलने नहीं आये, उसकी सुध तक न ली । ईला आ जाती है, फिर उन्हें उसकी क्या चिन्ता ? अवकाश का बहाना करते हैं । साफ़-साफ़ कहने में कौनसा संकोच आड़ेआ जाता है ?…

भंवर में उसकी भ्रम से लदी नाव फंसती चली जा रही थी ।

गीता के चले जाने के बाद, उमा खिड़की में खड़ा हो गया था और फिर दूर-दूर कुछ देखने लगा । सड़क पर जाते-आते इक्के-दुक्के आदमियों को, धूप में पथ भ्रष्ट-सी फिरती-उड़ती चीलों को, ऊंचे स्वर में पुकारते खोंचे वाले को । दूर—आकाशको, अनन्त को, अनन्त के पार तक को।

ईला को खड़े-खड़े लगभग दस मिनट होने आये, पर उमा की अर्द्ध-चेतनावस्था अब भी नहीं टूटी थी । उमा की वह अपलक दृष्टि जैसे

कमरे की स्थिति के दायरे में नहीं बंधी थी। उसका वह बंधा हुआ ज्ञान एक गीता को लेकर ही सीमित था।

ईला को यह उपेक्षा अब असह्य हो रही थी, परन्तु फिर भी वह वहां से जाना नहीं चाह रही थी। यह चाह, जैसे उसकी अपनी इच्छा का रूप था। कोई आकर्षण था। या जैसे और कुछ था। बहुत कुछ था, या फिर कुछ नहीं था। और वह खड़ी थी। वह उस कमरे में फैली ख़ामोशी की दरार को तोड़ना चाहती थी, किन्तु फिर भी वह उसे तोड़ना अनुचित समझ रही थी। वह कुछ बोलना चाहती थी। भीतर दिल से कोई चीज़ रह-रह कर ऊपर उठ रही थी, पर नहीं समझ सक रही थी कि क्या कहे, कैसे कहे ?

उपेक्षा की अनुभूति जो रह-रह कर वह मन में अत्युक्त महसूस कर रही थी और भाग जाना चाहती थी, किन्तु फिर भी वह ऐसा नहीं कर सक रही थी। न वह भाग सक रही थी और न कुछ बोल ही पा रही थी। ऐसी क्या चीज़ थी, जो उसे कुछ भी नहीं करने दे रही थी—उमा का व्यक्तित्व, उसकी प्रतिभा, उसके अपने सीमित दायरे अथवा उसकी वह नारी-सुलभ दुर्बलता ?

अब वह एक ओर पड़ी कुर्सी पर निढाल-सी बैठ गई थी। और बैठकर भीतर-भीतर ही सुलगने लगी थी। जाने किस प्रभाव के नीचे वह दबी जा रही थी। वह अपने आपको जादू के प्रभाव में फंसी महसूस कर रही थी। जैसे चारों ओर उसके 'हिपनाटिक' तार फैले हुए हों। गीता के प्रति इतनी जलन, क्षोभ महसूस करते हुए भी, जैसे उसके भीतर की नारी उमाकान्त का पक्ष ले रही थी। और वह अपने भीतर की नारी को नहीं समझ पा रही थी। वह कमरे से निकलकर भाग नहीं पा रही थी, और खुलकर रो भी नहीं पा रही थी अपनी इस दशा पर।

वह सोच रही थी—कितनी भाग्यशाली है गीता, जिसे उमा जैसे पुरुष का प्यार मिला। जिसके आने पर उन पर बहारें आ जाती हैं और जिसके चले जाने पर उन पर तुषारत-सा हो जाता है।

और एक वह है—वह । न किसी की आंख का काजल, न किसी के पैरों की पाजेब ।

'अरे, तुम अभी तक यहीं बैठी हो ईला ? मैं तो समझता था' ... विचित्र-सी मुस्कराहट में खिड़की से अलग होता हुआ बोला ।

और ईला, जो मानसिक दबाव के नीचे दबी चली जा रही थी और जैसे इस दबाव से बहुत ही निकलना चाह रही थी, अब अनायास ही उमाकान्त द्वारा निकाल ली गई । उसके होठों पर वैसी ही कोई रंगत आ गई—जैसे हंसते-हंसते रोगी मर जाए ।

'क्या सोच रहे थे आप ?' उसने अवरुद्ध कण्ठ से पूछा ।

'कुछ भी तो नहीं ।' उमा ने उच्छ्‌वासित हो, जवाब दिया ।

'मुझसे छिपाते हैं ?'

'क्या छिपा रहा हूँ ?' उमाकान्त बाबू फ़र्श पर उन कागज़ों के अम्बार को लेकर बैठ गया चुपचाप ।

'बता दूं ?' मानो आंसुओं के भीतर से हंसते हुए ईला बोली ।

'क्या ? बोलो ।' एक उच्छ्‌वास।

कागज़ों पर से दृष्टि उठाकर उमा ने तत्काल ईला की ओर देखा । आंखों की गहराइयों में—जैसे कोई बड़ा-सा बादल तैर रहा था और वह बादल जैसे अभी-अभी बरस पड़ने को आतुर हो ।

वह मूक हाहाकार और आगे नहीं देखा गया । उसकी पसलियों में जैसे किसी ने कोहनी मार दी हो । उसने जल्दी से अधलिखा कागज़ खींचा, पैन उठाया और लिखने को ही था.........

कि पूछा—'क्या लिखने लगे ?'

उसके अब जाकर जी में जी आया । सान्त्वना की सांस लेते हुए बोला—'कुछ नोटिस लिखने हैं । आज शाम तक 'किसान' के सम्पादक को दे देने हैं ।'

'मैं कुछ हाथ बटाऊं ?'

'नहीं नहीं ईला। यह तुम्हारे बस का काम नहीं है—' उसने मुस्कराते हुए कहा।

'आप मुझे कोई अवसर क्यों नहीं देते ?' ईला का स्वर चीत्कार कर उठा—'आप मुझे यों दूर-दूर क्यों रखते हैं ? मुझसे ठीक तरह बात नहीं करते आप। आखिर बताइये तो सही, ऐसा मैंने कौनसा अपराध किया है ? बताइये न—'

उमा आवाक् देखता रह गया। स्वर अपेक्षाकृत उत्तेजित हो चला था। वह जान गया कि ईला की उत्तेजना अभी-अभी अंकुरित और प्रस्फुटित एकाएक ही नहीं हुई है, बल्कि कुछ काल की अब तक संचित की गई उत्तेजना है, जो अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा में भटक रही थी।

उससे कुछ बोलते नहीं बन पड़ा। कुछ देर ज्ञानशून्य-सा कागज़ों को यों ही उलटता-पलटता रहा। राम, यह कैसी परेशानी ! अब वह इस ईला को कैसे समझाये ?

वह मौन ही रहा।

अपनी उच्छृंखलता पर ईला को स्वयं विस्मय हो रहा था। पर वह करती भी क्या ? और कोई चारा भी तो न था। उसकी अपनी भी तो कुछ इच्छायें हैं ! उन्हें वह कब तक कुचलती रहे ? देखा जायगा, जो होगा।

कुछ देर बाद वह धंसे गले से बोला—'ईला'।

ईला की आखें छलक आईं। नॉर्मल गर्ल्स स्कूल की टीचर रोने लगी।

उमाकान्त का मन मसोस उठा। शरीर आवेश से कांपने लगा। उसके जी में आया कि यहां से उठकर कहीं भाग जाये।

पर यह क्या—ईला रोती-रोती वहां से उठकर भाग गई।

उसने पुकारा—'ईला।'

उसने सम्पूर्ण बल लगा कर दुबारा पुकारा—'ओ ईला।'

पर किसी ने नहीं सुना। हां, नींद से चौंक कर, सुशी अलबत्ता

आंखें मलती हुई बाहर आई और अपने भैया को भौंचक्की-सी देखने लगी।

उमा—स्तब्ध, नीरव, जड़वत्। अपराधी की तरह सिर झुकाये हुए।

एक गीता है—मौन, मूक और ओसकण-सी शीतल।

एक ईला है—व्यग्र, उग्र और अधीर। विस्फोटक पदार्थ-सी। वह पुन: लिखने बैठ गया।

अठारह

तीन-चार दिन बाद उमा गांवों के दौरे से लौटा था।

यह दिन उसके बड़े ही काम-काज के रहे। वह गांव-गांव घूमा। व्याख्यान दिये। गांवों में आवश्यक प्रश्नों पर जांच-पड़ताल की। गांव वालों की अवस्था का बहुत ही निकट रह कर अध्ययन किया और जरूरी बातों पर कर्मचारियों को कुछ आदेश दिये। वह सब मिलाकर कुछ कम न था। वह इसीलिये कुछ थक-सा गया था। तनिक विश्राम कर लेने की उसकी इच्छा हो रही थी। वह लेटा ही था कि सुशी आ गई।

थोड़ी देर इधर-उधर की बातों के बाद बोली—'भैया, कल हम घूमने गये थे……!'

नींद में ऊंघता-सा उमा अब तक केवल 'हां—हूँ' कर रहा था पर यहां आकर इस 'हम' ने जैसे उसकी नींद उड़ा दी। इस सुशी का इस 'हम' से क्या तात्पर्य?

उत्सुक हो पूछा—'हम कौन?'

'मैं और वो हैं न, ईला देवी। तो पार्क में गीता दीदी को देखा। भैया, क्या बताऊं—वो इस क़दर कमज़ोर हो गई हैं—इस कदर कमज़ोर हो गई हैं, जैसे महीनों की बीमार हों। मुंह उतरा-उतरा-सा था और……'

'और—और क्या ?' उमा ने तत्काल आंखें खोल दीं। थकान, पीड़ा, रातों का जागरण, आँखों की जलन आदि सब कुछ भूल गया।

'उन्होंने हमें जो देखा तो मुंह एक ओर फेर लिया। साथ में उनके निरंजन थे। दूर से तो प्रसन्न नज़र आ रही थीं पर जैसे ही हमें देखा—जाने कैसी-कैसी-सी हो गई।'

'क्या कह रही है ? कौन निरंजन ?' अधीर हो, उमा ने पूछा।

'मैंने एक बार ज़िक्र तो किया था आप से। वही चन्द्रमुखी के भैया, और कौन।'

'ओ—' जैसे गर्त में दबी कोई चिनगारी उचट आई हो। उमा को लगा, जैसे अब आगे कोई गति नहीं। हृदय जैसे भीतर ही भीतर बैठा जा रहा हो। उसने अपने आपको फिर से निढाल अनुभव किया। फिर वही पीड़ा, जलन, थकान, जागरण। आँखों में भारीपन, अंधेरा।

'आखिर वह हमसे बोली क्यों नहीं भैया ?' सुशी ने सरल किन्तु अधीर मन से पूछा।

'मैं क्या जानूं ? पर तू ईला के साथ गई क्यों ? क्यों गई आखिर ?' उमा का स्वर तनिक असहिष्णु हो उठा।

जैसे चीखना चाहकर भी वह नहीं चीख सका हो। और स्वर असीम वेदना से बोझिल हो गया हो।

सुशी सहमी-सी चुप हो गई।

तो छुटकारा पाने को उमा बोला—'अच्छा, खेल जाकर।'

वह तो चली गई पर उमा नहीं सो सका। अतः उठा और सीधा गीता के मकान की ओर चल दिया।

गीता के घर जाकर पुकारा—'गीता।'

गीता की आवाज़ आई—'कौन है ?'

बताया—'मैं—उमाकान्त।'

खुशी की एक लहर जैसे यहाँ से वहां तक फैल गई। घर में, बाहर, भीतर, सर्वत्र।

गीता ने तत्काल ही अपने को संभाला और मास्टरजी के सम्मुख आ गई। दो हाथ जुड़े और होठों पर फीकी मुस्कराहट बिखर गई।

और उमाकान्त ने देखा, कोमल तरुणाई कहीं नहीं है, आंखों में वेदना से परिपूर्ण एक नीरवता छाई हुई है। जैसे काफी-कुछ बदल गया है।

वह आगे-आगे कमरे में आई। उमाकान्त पीछे-पीछे।

उसने पूछा—'आज कैसे रास्ता भूल गये ?'

अरे, यह गीता आज कैसा विचित्र-सा प्रश्न कर रही है। क्या हो गया है इसे ?

जाने कैसे मुंह से निकल गया—'मालकिन कहां है ?'

—ओ, तो यह बात है। यह मेरे पास थोड़े ही आये हैं, मालकिन से काम है इन्हें। हां-हां, वही चर्खे-सूत वाली बात होगी—और क्या ? वह मुर्झा गई।

कहने को कहा—'मालकिन तो वसूली के लिए दोपहर की निकली हुई हैं, पर हमारे यहां बैठना भी अनुचित समझते हैं आप, जो खड़े हैं ?'

कमरे में पलंग के अतिरिक्त और कोई आसन न था और उस पर कपड़े बिखरे पड़े थे। गीता ने उन्हें एक ओर कर दिया। उमा बैठ गया। बैठकर कुछ देर गीता के मुंह की ओर देखता रहा। फिर न जाने क्या सोचकर एकाएक उठा और अपने दाहिने हाथ से गीता के माथे को छुआ। वह एकदम पीछे हट गई। उस क्षणिक शीत स्पर्श से उसका ललाट मानो और अधिक जल उठा।

उमा ने चौंक कर हाथ हटा लिया। उसके मुंह से तीव्र स्वर निकला—'कब से ज्वर है ?' और यह कह, उसने गीता के तमतमाते चेहरे पर आँखें गड़ा दीं।

'कहाँ है ज्वर ? वह तो..........सिर में थोड़ा दर्द होने से गर्म है शायद।' गीता ने बलपूर्वक एक सूखी मुस्कान अपने चेहरे पर फेर कर, बात उड़ा देनी चाही।

पर उमा ने साफ-साफ पहचान लिया, गीता झूठ बोल रही है। पर क्यों बोल रही है झूठ ? और यह चेहरा भी गीता का नहीं है, और ही किसी का है। नशे की-सी हालत में बोला—'यों लड़कपन करके, चाहकर कोई मर नहीं सकता गीता।'

—देखा, मुझे ही बना रहे हैं, जैसे इन्हें मेरी बड़ी चिन्ता है। मेरे मरजाने से जैसे इनका सब कुछ चौपट हो जायगा। कैसा छल रहे हैं मुझे ? अब तक ऐसे अनेक मीठे भुलावे देते रहे, अब और अधिक नहीं छली जाऊँगी मैं……।

न जाने उसे उस समय क्या हो गया था, सो गौर से देखने लगी मास्टरजी की आँखों में। वहाँ कुछ भी तो नहीं था उन आँखों में। वह व्याकुल याचना, उत्कण्ठा और आशा-निराशा के पारस्परिक संघर्ष की प्रतिछाया, जो पहले कभी वहाँ वर्तमान रहती थी—वह अब कहाँ ?

सूखी हंसी हंसकर कह दिया—'मरना कौन चाहेगा ? मैं क्यों मरने लगी ?'

'फिर खुद पर यह अन्याय क्यों कर रही हो, गीता। मुझे दुख होता है।'

—फिर वही झूठा दुःख ? यहां से जाते समय इन्हें दुख न हुआ ? हाथ जोड़े थे, रोई थी, गिड़गिड़ाई थी। तब वह दुख कहाँ चला गया था ? अब ईला का सामीप्य पाने के उपरान्त भी मुझे लेकर दुखित होने की कैसी विचित्र और मजेदार बात कर रहे हैं ये ?

कुछ कठोर स्वर में कहा—'मुझे लेकर आप सदैव दुखी रहे हैं, इसका मुझे भी बेहद दुःख है। अब आप अपने आपको यदि स्वतन्त्र समझें, तो संभव है, आप सुखी हो सकेंगे, मास्टरजी।'

उमा विस्मित हो, गीता का मुंह तकता रह गया। कुछ देर बाद घबराता-सा बोला—'मालकिन कब तक आजावेंगी ?'

'सो तो कहकर नहीं गईं—' वह क्षणिक रुकी, और फिर बोली—

'आप चिन्ता न करें। जिस काम से आप आये हैं, इसकी सूचना मैं उन्हें आते ही दे दूंगी—।' उसका स्वर बहुत ही दुर्बल हो गया था।

बात के तीखे ढंग से, उमा का मन धंसता चला जा रहा था। गीता के शब्द चुभ-चुभ गए। एक दृढ़ सत्य की भाँति आज वह सब घट रहा था, जिसकी उसने कभी कल्पना भी न की थी। वह उठ खड़ा हुआ।

सिर झुकाये, बहुत ही नम्र स्वर में बोला—'मैंने आकर तुम्हें व्यर्थ कष्ट दिया, इसका खेद रहेगा मुझे। अब चलता हूं—'

उस समय गीता का मन चीख पड़ने को हुआ। उसने फूट-फूट कर रोना चाहा और आगे बढ़कर मास्टरजी के पैरों में गिरते हुये क्षमा की भीख मांगनी चाही पर वह कुछ नहीं कर सकी। केवल शून्य आँखों से देखती रह गई—बस।

उमा तेज़ी के साथ चल दिया।

उसके जाते ही वह धम्म् से पलंग पर गिर गई और फूट-फूट कर रो पड़ी।

उमा के नेत्रों के आगे कोहरा-सा छाया हुआ था। वह भीतर ही भीतर एक मूक अंधड़ से सुलग रहा था। वह व्यर्थ ही वहाँ क्यों गया? यदि नहीं जाता, तो यह सब कुछ क्यों होता? क्या वह इस कारण हुआ कि वह गीता के द्वार पर एक प्रार्थी होकर गया था? वह गीता को लेकर न जाने क्या-क्या आशायें मन में संजाये हुआ था, न जाने क्या-क्या सोचता रहता था—उसी के बल पर वह संसार का कठिन से कठिन कार्य कर डालेगा, किन्तु आज—आज उसे लग रहा था, जैसे उसका सारा बल, सारा उत्साह बुझता जा रहा है। उसकी उम्मीदों के खेमे उखड़ रहे हैं। लंगर टूट रहे हैं।

उन्नीस

गीता मास्टरजी के चले जाने के बाद इतना रोई, इतना रोई और मन ही मन पश्चाताप की भीषण ज्वाला में सुलगती रही कि ज्वर और तेज़ हो गया।

जिस पलंग पर बैठकर उमा गया था, उससे उसे इतना मोह हो गया था कि उसने अपनी बीमारी का बिस्तर भी उसी पलंग पर लगवाना तय कर लिया। जहाँ पलंग बिछा था, उसके ठीक सामने ही खिड़की पड़ती थी और सीधी हवा आती थी। मालकिन ने उस पलंग के लिये बहुत मना किया, बहुत ही समझाया पर गीता थी कि उसने माँ की एक भी नहीं चलने दी।

एक ही विचार उसे अकेले में हूल-हूल कर छेदता रहता—अब मास्टरजी यहां कभी नहीं आएंगे। आएंगे भी क्यों? क्या कुछ कम उपेक्षा और तिरस्कार हुआ है उनका? उस समय उसे क्या हो गया था? उस आचरण से पूर्व ही वह मर क्यों नहीं गई? अब तक क्यों जीवित है? जिसे सदैव पूजा, हृदय में आसीन किया—उसी का तिरस्कार? अब वह उन्हें कैसे मुंह दिखा पायेगी?

उसने झटके के साथ सिर को तकिये पर फेंका और आँखें कसकर बन्द कर लीं। कण्ठ सूख रहा था और सिर में हथौड़े से चल रहे थे। उसने सूखे कण्ठ से पुकारा—'माँ।'

आवाज़ सुनते ही मालकिन दौड़ी आई—'क्या बात है बेटी?'

'पानी।'

मालकिन ने पानी पिलाया। फिर सस्नेह अपनी बेटी के सिर पर हाथ फेरते हुए बोलीं—'तुझे क्या हो गया है गीता? कुछ मुंह से बोल बेटी, तुझे ऐसा क्या दुःख है? तेरा कुछ दुखता है?'

गीता रोने लग गई।

मालकिन ने उसे अपने सम्पूर्ण प्यार से वरजते हुए, अपनी साड़ी के छोर से उसके आँसू पोंछ डाले। इस प्रयास में उनकी खुद की आंखें गीली हो आईं।

पिछले तीन दिन से गीता ने न कुछ खाया ही था और न दवाइयों

अथवा दूध-चाय की कुछ-एक चम्मचों के अतिरिक्त पिया ही था। दो-चार दाने अंगूरों से क्या होने वाला था ?—सोच में डूबी मालकिन बैठी थीं। घर में कोई मर्द भी न था ढाढस बंधाने वाला। नीचे किराये दारों में से कुछ-एक स्त्रियां आकर पूछ जाती थीं। काम-काज नौकर कर रहे थे।

दोपहर को निरंजन आ गया। चन्द्रमुखी ने ही उसे गीता की बीमारी का समाचार दिया था और उसे यहां भेजा था। चन्द्रमुखी कल संध्या को वैसे ही घूमती हुई इधर निकल आई थी। आने पर उसे पता लगा कि गीता ने तो दो दिन से खाट पकड़ रखी है।

निरंजन को देखते ही मालकिन के जैसै सारे दुःख दूर हो गये। दमकती हुई बोलीं—'तुम आ गये बेटे, अच्छा किया। मैं तो अकेली घबरा-सी गई थी।'

निरंजन ने हाथ जोड़े और फिर कुर्सी पर बैठते हुये बोला—'मुझे तो चन्द्रा से मालूम हुआ—! अब आप चिन्ता न कीजिये !'

मालकिन के सूखे चेहरे पर आशा और हर्ष की रेखा उदय हो गई।

गीता की आंख कुछ देर पहले ही लगी थी।

निरंजन ने धीरे से हाथ छूकर देखा। बुखार तेज़ था। वह उठ गया—'मैं अभी डाक्टर को लाता हूँ।' यह कह, वह तेज़ी से बाहर चल दिया……।

डाक्टर ने परीक्षा करके कहा—'डर की कोई बात नहीं है। अत्यधिक मानसिक तनाव और कुछ ठंड का कॉम्पलीकेशन मालूम देता है। दवा के लिये किसी को मेरे साथ भेज दीजिये। दवा से ठीक हो जाएंगी। डॉन्ट वरी (चिन्ता मत कीजिये)।'

नौकर जाकर दवा ले आया। 'प्रिसक्रिप्शन' बदला हुआ जान पड़ता था। साथ में पाउडर और गोलियाँ। दवा शुरु हो गई।

गीता को बड़ी बैचेनी महसूस हो रही थी। वह रह-रह कर करवटें

बदलती थी और सिर को इधर-उधर पटकती थी। निरंजन कभी मालकिन से बातें करता और कभी अपलक गीता को देखने लगता और कभी गोद में खुले सॉमर सेट मॉम के उपन्यास को पढ़ने लगता।

संध्या होते-होते बुखार कुछ हल्का पड़ा।

दिये के टिमटिमाते प्रकाश में निरंजन सुखद, रंगीन स्वप्न देख रहा था—उस दिन के, जिसकी वह अधीरता और व्याकुलता से प्रतीक्षा कर रहा था—उस दिन के, जब वह और गीता अग्नि को साक्षी समझ-कर विवाह के पवित्र बन्धन में सदा के लिये बन्ध जावेंगे। जीवन का वह सबसे बड़ा पर्व होगा। जब वह गीता को पत्नी के रूप में पाकर गौरान्वित और भाग्यशाली हो जाएगा। उस दिन वह अपने आपको उसके सम्मुख समर्पित कर देगा और वे दोनों एक दूसरे में अनुप्राणित हो उठेंगे।

दिये के टिमटिमाते प्रकाश में, थोड़ी दूरी पर लेटी मालकिन चुप-चाप भगवान से गीता की कुशलता के लिये प्रार्थना कर रही थीं। देवी-देवताओं की मनौती मना रही थीं। उनके मानस में कुछ और तरह के चित्र उभर रहे थे—मेंहदी रंगे हाथ हल्दी से मला कोमल गात, शहनाइयों के स्वर। सखियों की स्वच्छन्द और मुक्त हँसी—जैसे बजती हुई कितनी ही जलतरंग। वेदी के गिर्द घूमते हुये चार सच्चे और उन्मत्त पैर।

उसी दिये के टिमटिमाते प्रकाश में गीता सोच रही थी—उसकी बीमारी को लेकर यह निरंजन जब से आया है, कैसा चिन्तित दीख रहा है? कैसी दौड़धूप कर रहा है? खुद ही उठकर पानी पिला रहा है और खुद ही दवा। कैसा स्नेह है इसका। निस्तब्ध और निश्चल-सा बैठा है बस। क्या वह इस निरंजन के योग्य भी है? इस सबके विनिमय में उसकी ओर से क्या मिलेगा आख़िर निरंजन को? क्या?

उसने कमरे की मनहूसियत का तोड़ते हुये कहा—'थोड़ा लेट जाइये। कबसे बंधे-से बैठे हैं।'

'कोई बात नहीं। मुझे इसी में आनन्द है।'

'मुझे अब कोई तकलीफ नहीं। आप आराम करिये।'

'थोड़ा और बैठ लूँ, गीता। चला जाऊँगा अभी, यदि भेजना ही चाहती हो।' उच्छ्वासित स्वर में कहा उसने।

मालकिन को झपकी आ गई थी।

'मुझे दुःख है, मेरे कारण आपको काफी कष्ट और असुविधा हुई'—

'तुम ठीक हो जाओगी तो मैं समझूंगा कि मैंने सब भरपाया!'

'कैसी बातें कर रहे हैं? कह तो रही हूँ मैं, कि अब बिल्कुल ठीक हूँ। 'नार्मल' हूँ। कमज़ोरी भी दो-चार रोज़ में चली जायगी। आप व्यर्थ'—

'इसे व्यर्थ मत कहो गीता। तुम नहीं जानतीं, तुम्हारे सानिध्य के लिये मेरे प्राण कैसे तरसते रहते हैं। आज जो यह अवसर मिला है, इसे सौभाग्य समझ रहा हूँ अपना। तुमसे दूर-दूर मेरे दिन कैसे गुज़रते हैं, तुम क्या जानोगी?' भावातिरेक और आवेश से निरंजन काँपने लगा।

गीता ने मुँह हाथों में ढाँप लिया और सुबक उठी—'निरंजन कुमार बाबू।'

निरंजन कुछ उत्तेजित था, बोला—'तुम्हारे ज़रा-से दुःख पर भी मैं अपना सम्पूर्ण न्योंछावर कर दूंगा, गीता। तुम्हारी तनिक-सी मुस्कराहट पाकर मैं अपने को धन्य समझूंगा। समझूंगा कि संसार में मुझसे अधिक सुखी कोई नहीं।'

गीता को लगा, जैसे वह इस पवित्र, निष्कपट हृदय में से सोते की तरह फूटने वाले इस रस को, इस प्रेम को, कैसे बटोरे? इस स्नेह को बटोरने में वह जैसे बहुत ही अयोग्य, निर्बल और असमर्थ है……। वह चुपचाप रोती रही।

'तुम खामोश हो, गीता? तुम बोलती नहीं? और तुम्हारी यह

ख़ामोशी मुझे पागल बना रही है। सच कहता हूँ गीता, यदि इस जीवन में तुम मुझे नहीं मिलीं तो मैं इस संसार में और अधिक जीने की लालसा भी नहीं रखूँगा। यही मेरा संकल्प और निश्चय है। तुम ही मेरा मंसूबा हो, तुम ही मेरी एक मात्र अकांक्षा। तुम्हारे आंचल की छांव में मैं संसार की सारी विषमताओं को हंसते-हंसते सह लूँगा'—

—यह क्या? उसके कान यह क्या सुन रहे हैं?

उसे लगा, जैसे भूचाल आ गया है। कमरे की दीवारें ज़ोर-ज़ोर से हिल रही हैं और धरती घूम रही है।

गीता ने मुँह दूसरी ओर फेर कर तकिये में छिपा लिया। टप्-टप् आँसू गिरते रहे। और वह अर्द्ध-सुप्तावस्था में, खोया-सा बैठा रहा।

मालकिन ने जंभाई ली और बदन तोड़कर उठ बैठीं। एक दीर्घ निःश्वास।

'पता ही न चला, मेरी आँख कब लग गई। क्या बजा होगा बेटे?'

'जी, शाम के आठ बजे हैं अभी तो।'

'बस? मैं समझी, आधी रात बीत चुकी।' वह हो-हो हंस पड़ीं।

अब तक लतायें थिरक चुकी थीं। कलिकायें अवगुण्ठन के अन्दर ही लजा कर रह गई थीं और कल्पना उल्का के समान गिरती हुई यथार्थ के आंगन में पेवस्त हो गई थी। सैलाब ऊपर से निकल चुका था।

बीस

ईला ने सोचा तो था कि अब वह उमाकान्त बाबू के यहां नहीं जायगी किन्तु उसके सोचने की यह बात पांच-सात दिन होते ही उसे निर्मूल सिद्ध होती प्रतीत हुई। इतने से दिनों में ही जैसे वह उकता गई थी। उसने अनुभव किया, जैसे उसका मन और दिनों की अपेक्षा अधिक खिचता जा रहा था और यह खिचाव उसके अब तक के संकल्प और निश्चय को एक बारगी तोड़ देने पर उद्यत था।

उमा से दूर रह कर उसके वह दिन किस बेचैनी से गुज़रे थे, यह ईला ही जानती थी। एक विचित्र-सी वीरानी उसे महसूस होती रही थी। जैसे प्रत्येक वस्तु का आकर्षण निर्जीव हो गया हो, प्रत्येक वस्तु एक ह्वास में पड़ गई हो। जैसे ख़िज़ां गुज़र गई हो। नित्य ही उसे अपने अन्दर उस ख़िज़ां का एक भौतिक आभास होता रहा था और उस आभास को वह अपने हृदय में अनुभव करती आ रही थी। लड़कियों को पढ़ाने में उकताहट। आस-पास की सभी चीज़ें बंजड़। जैसे वह जीवन के लिये कोई अप्रिय परिश्रम कर रही हो।

वह घर में एकाकी अनुभव करती, मानो घर के अस्तित्व में से कोई चीज़ निकाल कर फेंक दी गई हो—वह चीज़ जो उसके जीवन से सम्बन्ध रखती थी, जो उसे जीवित रखती थी। फिर भी, इतना कुछ होते हुये भी, उसने सोच लिया था—कदाचित प्रतिशोध की सी भावना में, कि वह यों ही जलती रहेगी, घुटती रहेगी किन्तु उमाकांत बाबू के यहां तो नहीं जायेगी। वहां जाकर वह अब और अधिक स्नेह की भीख की अपेक्षा नहीं करेगी। वह अब अपने आपको सहेजना सीख लेगी।

किन्तु आज उसने अनुभव किया कि उसका वह मान से भरा भाव कुछ अधिक महत्त्व नहीं रखता। उसके तनाव में अब अधिक शक्ति नहीं है। आज वह अपनी आत्मा में उमाकान्त बाबू को ढूँढ़ रही थी। वह जाने के लिये उठ खड़ी हुई।

क्षण भर वह अपने अन्दर किसी चीज़ के विरुद्ध लड़ती रही।······ उमाकान्त से पृथक रह कर भी वह उनका कुछ बिगाड़ न सकी। उनमें कोई अन्तर न आया, उस पर कोई असर न हुआ। ईला को इसका पश्चाताप न था। वह स्वयं कितनी महत्त्वहीन है। वह क्या कर सकती है? वह कुछ नहीं कर सकती। वह केवल एक नारी है। वह भीतर किस के विरुद्ध लड़ रही है? यह सब निरर्थक है।······वह चल पड़ी। यह भाव कैसा कोमल, कितना सुन्दर, कितना विजयी था।

लट्टू चटख रहे थे—दूर-दूर कतार में लट्टू। उनकी जमी हुई

रोशनी सड़क पर बिखरी हुई थी—निश्चल, गतिहीन रोशनी। वह तेज़ कदमों से वढ़ रही थी।

उमाकान्त बाबू का घर आ गया था। उसका दिल धड़क रहा था। वह तेज़ी से कमरे में आकर खड़ी हो गई। उसने अनुभव किया जैसे वह हांफ उठी है।

कमरे में रोशनी हो रही थी और उमाकान्त बाबू दीवार का सहारा लिये, सिगरेट पीते हुए छत की ओर एक टक देख रहे थे। चेहरा चिन्तित दिखाई दे रहा था, मानो कोई बहुत ही भारी मसला हल कर रहे हों।

जैसे ही ईला को देखा तो एक फीकी-सी मुस्कराहट उनके चेहरे पर खेल गई।

कमरे में इस हरकत के बाद…… यह खामोशी

विचित्र थी, मानो किसी दूसरी वस्तु से गर्भवती हो। उमाकान्त बाबू अजीव ढंग से खामोश थे। और सृष्टि में जो ध्वनि-गति थी-वह ईला की चेतना से बहुत ही बाहर की वस्तु थी।

ईला मौन वनी कुछ चाह रही थी और आत्मा में उस चाहने से डर भी रही थी। वह जैसे बोलने की शक्ति से वंचित हो गई थी।

उमाकान्त थोड़ा हँस पड़ा। पर हसा बहुत आहिस्ता से। शायद इस डर से कि एक ऊंचा क़ह-कहा जादू के दायरे को न तोड़ दे। फिर भी वह जादू का दायरा हिल कर रह गया। इस हंसने ने ईला को विचलित-सा कर दिया, जैसे पानी की सतह पर चन्द बूंदें वर्षा की गिर पड़ें।

वह सस्नेह बोला—'आओ ईला, बैठो।'

इस प्यार से भीगे स्वर ने एक दम ईला को खिला दिया। उसे जैसे टिक रहने को अवलम्ब मिल गया। वह पास पड़ी कुर्सी पर बैठ गई।

प्यार से भर कर ईला जैसे बहक गई—'सोचा तो था, कि आपके यहां न आऊँ और प्रयास भी किया मैंने, किन्तु आज फेल हो गई।'

उमा आज 'मूड' में था, हंसता हुआबोला—' तुम्हारे प्रयास पर नहीं, तुम्हारे फेल हो जाने पर बधाई।'

ईला लाज में दबी बोली—'मैं जो इत्ते दिनों से आपके यहां नहीं आई तो आपको बुरा तो लगा होगा ?'

'जहां तक लगने का सम्बन्ध है, मेरा प्रयास सदैव यही रहा है कि कोई भी चीज़ मुझे अच्छी ही लगे—बुरी नहीं। किन्तु यदि इस प्रयास में मैं फेल हो जाता हूँ, तो सोचता हूँ कि अवश्य कोई न कोई गड़बड़ है। मुझे बुरा लग रहा है, तो अवश्य ही दूसरे प्राणी को भी मैंने किसी न किसी रूप में कुछ बुरा लगा दिया है। और बुराई डंक बन जाती है। इसीलिये बुराई के दु:ख से मैं दु:खी नहीं होने की ही चेष्टा करता हूँ—इससे भागता हूँ, और सन्तोष करता हूँ।'

'तो क्या मेरे नहीं आने से आपको सन्तोष मिला ?'

'असन्तोष' चरित्र की दुर्बलता है और सन्तोष आत्मा की शांति। अन्तर केवल इतना है कि यदि यह कहूँ, कि हां, मिला तो तुम्हें बुरा लगा देता हूँ। यदि कहूँ, नहीं, तो चरित्र की दुर्बलता का प्रश्न आता है। मेरी समझ में, मेरे केस में, दोनों बातें लागू होती हैं, या एक, या फिर...'

'या फिर दोनों नहीं—' बीच ही में ईला खिलखिला कर बोली।

'नहीं—' नहीं को कुछ अधिक खींचते हुए उमा ने कहा—'यह बात नहीं' यदि यह दोनों नहीं होते तो तुम मेरे यहां नहीं आतीं—'कभी नहीं आतीं। और चूंकि दोनों हैं—मैं तुम्हारे यहां नहीं आ सका। यदि एक ही होता, तो कदाचित् मेरा तुम्हारे यहां आना अवश्य संभव हो जाता, और तब असन्तोष मेरा कारण बनता—!'

केवल एक फ़लसफ़ा था यह। ईला ने स्पष्टतया: देखा कि उमाकान्त बाबू आज बातों में सक्रिय योग दे रहे हैं। उसे विदित हो गया कि वह वार्तालाप जारी रखना चाह रहे हैं। उसे अविदित तौर पर प्रसन्नता मिल रही थी।

वह अपने को इन शब्दों के प्रभाव में, या फिर उमाकान्त बाबू की उस आवाज़ के प्रभाव में सौंप देना चाहती थी। वह नहीं जान पा रही थी कि वह शब्द थे, या उमाकान्त बाबू की आवाज़, या कुछ और-जो

उसे खींच रहा था और वह अविदित तौर पर खिंच रही थी। वह अपने गिर्द जादू का दायरा चाह रही थी और वह अपने आपको उस दायरे में फेंक देना चाहती थी और वह हिप्नाटिक तारों को चारों ओर महसूस कर रही थी और वह नहीं चाह रही थी कि वह उस जादू के दायरे को तोड़े। वह बोलना चाह कर भी नहीं बोल रही थी। वह चुप थी। वह केवल सुनना चाह रही थी और वह सुन रही थी। जो कुछ उमा कह रहा था, उससे चाहे पूर्णतया: सहमत न थी, किन्तु फिर भी वह उसकी बात काटना नहीं चाहती थी। खुद को निर्बल अनुभव कर रही थी। वह उसकी आवाज़ के सामने वह इतना जान रही थी कि वह कुछ कह रहा है। वह क्या कह रहा है—वह किसी दूसरी वस्तु के प्रभाव में जान ही नहीं पा रही थी।

प्रसग को पूर्ववत् चालू रखने के उद्देश्य से उसने कहा—'आज जब मैं स्कूल से लौट रही थी, तो देखा, आपके आफ़िस पर केसरिया रंग का एक झंडा लहरा रहा था। इस रंग के चुनाव के बारे में जानने को उत्सुक हूँ।'

उमा हंस दिया। क्षणेक रुक कर बोला—'यह रंग मेरी अपनी पसंद है। इस पसन्द को विचित्र तो नहीं, हां, पृथक अवश्य कह सकती हो तुम। बात यह है, मैं मौलिकता से अधिक पृथकता को अधिक महत्त्व देता हूँ।.....'

'इस रंग में खिचाव है, 'आइडिया' भी है। इस रंग में दो बातें निहित हैं। पहली ज्ञान और जिज्ञासा की। दूसरी पौरुष और वीरता की। यह दोनों का द्योतक है। सुबह ही सुवह तुमने देखा होगा, आसमान पर सूर्योदय से पहले जो रंग खिलता है—लाल और पीला-सा—वह हमारे लिये ज्ञान और जिज्ञासा का संवाद लाता है। दूसरी बात तो बहुत साफ़ है। हमारे अमर रणवीरों ने सदैव ही रण-भूमि में इसी रंग को चुना है। इसीलिये यह रंग मुझे प्रिय लगा। इससे हम भारतवासी वीर और साहसी हों तथा हममें ज्ञान की प्रवृत्ति भी जगे। और यही तो ग्राम सेवा संघ का प्रमुख उद्देश्य है।'

ईला के मन में एक साथ कितने ही संशय उठ खड़े हुए—'कांग्रेस के झंडे का रंग नहीं चुन कर, क्या आपका संघ कांग्रेस के मत से, उद्देश्य से, असहमत है ? क्या आपके संघ की कोई नई योजना है ? जब यहां और कई 'वाद' अपना नारा लगा रहे हैं, तो आपके संघ की कहाँ तक सफ़लता की आशा की जाए ? यह 'कम्युनिस्ट', 'सोशलिस्ट', 'रेडीकल पार्टी' और आप जैसे कई संघ—ऐसे कौन से उद्देश्यों की पूर्ति चाहते हैं ? मेरी समझ में तो काँग्रेस में इन सब संस्थाओं का समावेश है। मेरी ऐसी धारणा है कि कांग्रेस के अतिरिक्त कोई भी संस्था ऐसी नहीं है, जो स्वार्थ-लोलुप न हो अथवा प्रसिद्धि में आना नहीं चाहती हो। और कांग्रेस की प्रतिद्वन्द्वी होकर ही कार्य करना-जैसे इनका एक मात्र उद्देश्य हो।......'

उमा हंस पड़ा, किन्तु फिर एकाएक गंभीर हो गया। बोला—'तुमने तो एक साथ इत्ते सारे प्रश्न कर डाले हैं, कि मेरी समझ में नहीं आ रहा कि किस-किस का जवाब दूं। प्रत्येक प्रश्न महत्त्वपूर्ण है और प्रत्येक पर एक किताब लिखी जा सकती है। फिर भी संक्षेप में, मैं सबका उतर देने का प्रयत्न करूंगा। खास तौर से इसलिये, कि तुम जिज्ञासू हो।......' यह कह, उसने कुछ देर सांस ली, फिर एक सिगरेट सुलगाई और फिर बोला—

'कांग्रेस के झंडे का रंग मैंने नहीं चुना, इसका अर्थ यह तो नहीं कि मैं अथवा ग्राम सेवा संघ कांग्रेस के उद्देश्यों से असहमत हैं। मैंने, शायद तुम्हें याद होगा, कुछ देर पहले कहा था कि मुझे मौलिकता से भी अधिक प्रथकता प्रिय है। इसमें प्रतिद्वन्द्विता का भाव भी नहीं झलकता।......

'काँग्रेस देश की सबसे बड़ी संस्था है, जो प्रत्येक रंग और वर्ग को पास लाती है। वह इन्सानियत की कायल है। उसमें मेरी श्रद्धा उस समय तक रहेगी जब तक कि उसमें सत्य और देश का हित गौण न हो।......

'और जितनी भी यह दूसरी संस्थायें हैं- हैं और रहेंगी। प्रति-

द्वन्द्वी होते हैं और उनका भी अस्तित्व होता है। रहे उद्देश्य और विचार—सो अलग चीज़ हैं। हमें तो इस चीज़ से सरोकार होना चाहिये कि ये संस्थायें आगे चलकर हमारा हित सोचेंगी अथवा नहीं। चाहे वह कांग्रेस ही क्यों न हो। हम किसको बुरा कहें? बुराई स्वंय सामने आ जाती है। एक बात तो आखिर तुम मानोगी ही कि इन संस्थाओं के अस्तित्व से हमें कांग्रेस की ठीक-ठीक शक्ति का ज्ञान तो हो सकता है।......

'इन संस्थाओं की सफलता अथवा असफलता एक मात्र इनकी सच्चाई और निःस्वार्थता पर निर्भर है। फिर लगन भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं। मैं खामखां किसी संस्था में उसकी भीतरी बुराइयां ढूंढने का हिमायती नहीं। मैं उसके कार्यों के माप-दण्ड—उसकी 'रीडिंग' पढ़ने का समर्थक हूँ।

'समानता का विचार जो कम्युनिस्टों का है—एक सुन्दर विचार है। इस अथवा ऐसी अन्य सस्थाओं में प्रसिद्धि अथवा स्वार्थपरता की भावना कहां तक होती है, इस सम्बन्ध में अधिक प्रकाश नहीं डाल सकूंगा। फिर भी, मेरा विचार है कि किसी सस्था में यह विचार होता भी है तो बहुमत से नहीं, और वह दबकर रह जाता है। मेरा यह भी विचार है कि बहुमत का एक ही उद्देश्य होता है—चाहे वह कुछ भी हो। उद्देश्य को प्राप्त करने के मार्ग चाहे कितने ही हों। जैसे भगवान को स्मरण करने का उद्देश्य सबका है किन्तु तरीके भिन्न भिन्न हैं। प्रसिद्धि प्राप्त करने की भावना यदि किसी संस्था में है, तो वह अधिक समय तक नहीं चल सकती।......

'और उन्हीं संस्थाओं में से हमारा यह ग्राम सेवा संघ भी एक है, जिसका प्रमुख उद्देश्य है—किसानों में जागृति पैदा करना, उन्हें यथा संभव शिक्षा प्रदान करना। ताकि आने वाले भविष्य में वे अपने भार को सुचारु रूप से उठा सकें।'......

ईला खोई-सी यह बातें सुन रही थी। वह नहीं जान पा रही थी कि यह उमा की आवाज़ थी, या उसके कहने का ढंग था, या कुछ और

था, जो जादू था, और जिसने उसकी अर्द्ध-चेतना पर अधिकार कर लिया था। किन्तु जब उसने 'किसानों की शिक्षा' वाली बात उमा के मुंह से सुनी, तो मन में उससे असहमत होते हुए प्रकट में बोली—'किसानों की शिक्षा से आपका तात्पर्य क्या है, मैं पूर्णतया समझी नहीं। कदाचित् आपका आशय स्कूल और कालेज की शिक्षा से नहीं है।'

''मैं तुम्हारी बात का अनुमोदन करता हूँ। निश्चय ही मेरा आशय स्कूल तथा कालेज की शिक्षा से नहीं है। महज़ यह सोच लेना, कि हम स्कूल तथा कालेजों में पढ़ लेने मात्र से सभ्य तथा शिक्षित बन जाते हों—ऐसी बात नहीं है। सच तो यह है, कि उन संस्थाओं से निकलने पर भी हम परतन्त्र हैं, हमारे रक्त में कोई उबाल नहीं और यहां तक कि उस वक्त तक हमने अपना सब कुछ शून्य बना लिया होता है। प्रतिष्ठा, सम्मान, पुरुषार्थ, साहस, तत्परता आदि-सबके सब दुम हिलाना सीख गये होते हैं। अंग्रेज़ सदा हमारा ना समझ और मूर्ख होना चाहता रहा। वह हमें केवल परतंत्र के रूप में देखकर खुश होता रहा।

'मैं जो कह रहा था-वह यह, कि प्रजातन्त्र उस समय तक संभव नहीं, जब तक किसानों को शिक्षित नहीं किया जाय। यदि प्रजातन्त्र और स्वराज्य आवश्यक है तो किसानों की शिक्षा परमावश्यक। यदि कुछ संस्थायें असफल हुई हैं तो उसका मुख्य कारण मेरी धारणानुसार यह है कि उन्होंने इस पहलू पर अधिक ग़ौर नहीं किया। हममें से अधिक संख्या किसानों की है—और वही असली भारत हैं। हमें नहीं भूलना चाहिये कि मुख्य भारत ग्रामों में है अथवा ग्राम भारत के प्राण हैं—भारत का वास्तविक प्रतिविम्ब। हम इन ऊंची-ऊंची मीनारों और सटे-सटे घरों में मधुमक्खियों के छत्तों की तरह लटके हुये हैं। भारत का आवश्यक अग तो कुछ और ही है। हम सब कुछ योग्य होते हुये भी अयोग्य हैं, दुर्बल हैं, मोहताज हैं उनके। सबल होने पर भी हास्यास्पद हैं। और वह, जो वास्तव में अन्नदाता है—उदासीन और उपेक्षित हैं। असभ्य और अशिक्षित हैं।........

'हमारे संघ का ध्येय यही है। और संक्षेप में शिक्षा से भी यह अर्थ

है कि किसान अपने हकों को समझें। कलक्टर के पास अर्ज़ी नहीं भेजकर, एक पंच बनाकर पंचायत द्वारा ही अपने झगड़ों का आपस में ही निपटारा करलें, ज़िम्मेदारी महसूस करें और गांवों का काम खुद ही चलायें—किसी के मोहताज न हों। खुद को राजा समझें और खुद को ही प्रजा। वास्तविक स्वतन्त्रता यही होती है।...'

ईला प्रसन्नचित्त से बातें सुन रही थी। तत्पर हो बोली—'सही आज़ादी की आपके मतानुसार क्या रूप रेखा होती है?'

'तुमने सचमुच बड़ा ही सुन्दर प्रश्न किया है—'उमा ने दूसरी सिगरेट जलाते हुए कहा—'सुनो, मेरा अपना विचार है कि आज़ादी में और आंखों की ज्योति में कोई अन्तर नहीं है। वह बिल्कुल आंखों की रोशनी की तरह है। जिस प्रकार हम अपनी आंखों की ज्योति से देख तो सकते हैं किन्तु उस ज्योति को नहीं देख सकते, उसी प्रकार आज़ादी भी हमारे बाहर की कोई चीज़ नहीं है, आंखों से दूर की चीज़ भी नहीं है, जिसे हम देख सकें।......

'आत्म-विमुक्ति, आत्म-दर्शनम्, आत्म-बोध ही आज़ादी है। आज़ादी हमारी आत्मा से ताल्लुक रखती है और वह भीतर है। आत्म-जीत का नाम ही आज़ादी है। गीताजी में इसे मुक्ति कहा है। और यह मुक्ति ही हमारी फिलासफी की संवेदना है।......'

और ईला फिर से हिप्नाटाइज़ होती जा रही थी। और वह ऐसा चाह भी रही थी। वह उमा की बातों से प्रभावित हो रही थी। उसे लग रहा था, जैसे उमा के यह शब्द उसके ही अपने सोचे हुए विचारों की कोई गूंज है। अपने ही विचारों के प्रदर्शन की मोहकता उसे रिझा रही थी, और वह उसकी ओर आकर्षित हो रही थी। वह आकर्षण स्पष्ट न था, जो या तो उसके विचारों के लिये था, या उसके व्यक्तित्व के लिये था या उसकी आवाज़ के लिये। फिर भी आकर्षण था, जो बिल्कुल अजीब था, कोमल था और विजयी। और अब फिर से वह खुद को निर्बल महसूस कर रही थी।

उमा कह रहा था—'जब तक देश का बच्चा बच्चा यह न समझे कि वह आज़ाद है, जागृति संभव नहीं। भारत से अंग्रेज़ी राज्य का चला जाना ही आज़ादी नहीं है। गांव वालों को किसी मंच पर एकत्रित करके कांग्रेस को वोट दिला देना ही आज़ादी नहीं है। हां, भगतसिंह का हँसते-हँसते फांसी के तख्ते पर लटक जाना आज़ादी है। मंसूर का सूली पर चढ़ जाना और क्राइस्ट का क्रूसीफाई हो जाना आज़ादी है। सात्रेटीज़ का ज़हर पी लेना—आज़ादी है...।' उमा का स्वर भावातिरेक में कांपने-सा लगा।

तनिक रुककर उसने मुस्कराते हुए पूछा—'अब देखा, आज़ादी कितनी दूर दिखाई दी ?'

प्रश्न के साथ ही ईला उस जादू के दायरे से बाहर निकल आई। चौंककर केवल धीमे से हंस दी।

वह बोला—'हर अच्छी चीज़ कठिन होती है। और प्रत्येक असाधारण पुरुष को ऐसी ही कठिन चीज़ों से लोहा लेना पड़ता है। आत्ममुक्ति को समझने के लिये तो हमें गांधीजी का साहित्य और उनके भाषणों का गहरा अध्ययन करना होगा।'

कमरे से बाहर सन्नाटा सनसना रहा था। और उसी सन्नाटे को क्लाक-टावर की घड़ी ने टन्-टन् ग्यारह बजाकर कुछ देर के लिये चीर-सा दिया। जैसे दूर-किसी कब्र से आवाज़ आई हो।

ईला चौंककर बोली—'अरे, ग्यारह बज गये।'

'हां, बातों में कुछ ध्यान ही न रहा। मुझे तो कल सुबह माले गांव जाना है। तड़के ही चार बजे उठ जाना होगा।' सिगरेट फेंकते हुए वह उठ खड़ा हुआ और बोला—'चलो, तुम्हें छोड़ आऊं।'

ईला का मन वहां से उठकर जाने का नहीं था। यह उसकी दृष्टि और हाव-भाव से उमा ताड़ गया था। आखिर सोच में डूबी-सी वह उठी, और धीरे-धीरे उमा के साथ चल दी।

उमा जब उसे छोड़कर लौटने लगा, तो ईला पास आई और बोली—'माले गांव से कब तक लौटने का विचार है ?'

'तीन-चार रोज़ तो लग ही जावेंगे।'

'उफ़, तीन-चार रोज़ ?' ईला जैसे सोच में पड़ गई

'क्यों ?' विस्मित होकर उमा ने पूछा।

'कुछ नहीं। ऐसे ही पूछा था मैंने तो।' वह उड़ गई।

उमा ने ग़ौर से ईला की ओर देखा। वह उतावले पैरों से आगे बढ़ गई।

वह भी भारी, बोझिल क़दमों से लौट चला।

एक विचित्र-सा व्यवधान आ गया हो जैसे। एक 'वेक्यूम'-सा।

इक्कीस

छुट्टी का दिन था और ईला का मन घर में नहीं लग रहा था। समय जैसे भार बनकर उसके सीने पर बैठ गया था। उमा अभी गांव से लौटा नहीं था। आज चौथा रोज़ था। सुबह के केवल दस बजे थे और पूरा लम्बा दिन शेष था, जो उसे काटना था। काटने का यह भाव उसे कुछ अप्रिय और दुर्बोध प्रतीत हो रहा था। किताबों में उलझकर, प्रयत्न करके भी वह अपने को संलग्न नहीं रख पा रही थी। कुछ सोचकर वह उमाकान्त बाबू के घर की ओर चल दी।

वहां पहुँची तो सुशी को चिन्तित पाया। चिन्ता का मुख्य कारण था—गीता की बीमारी की खबर, जो महरी ने उसे कल रात लाकर दी थी। यही सूचना उसने झट से ईला को दे दी और फिर बड़े ही प्यार से ईला से लिपट कर 'बोली—चलो न ईला दीदी, गीता बहन से मिल आयें।'

ईला स्तब्ध, मूक दृष्टि से इस मिन्नत करने वाली, अधीर सुशी को देखती रह गई। याचना, आग्रह और अनुरोध-सब अंकित थे सुशी के चेहरे पर। उससे 'ना' करते नहीं बन पड़ी। किन्तु 'ना' नहीं करने पर भी उसके हृदय के भीतर कुछ था, जो उसके समस्त प्राणों को ऐंठ रहा था और तब उस समय उसकी एक विचित्र-सी मानसिक स्थिति हो गई थी, जिसमें वह चकराई-सी खड़ी थी और उसे क्या करना चाहिये—यह स्पष्ट न था।

हृदय के उस क्षणिक अंधड़ में बहते—टकराते और संभलते हुए उसने स्थिर हो जाने की चेष्टा की, और फिर प्यार से उसके बालों पर हाथ फेरती हुई बोली—

'चलो, तैयार हो जाओ। मैं अभी आती हूँ।'

कुछ देर बाद वे दोनों वहां से चल दीं।

दोनों ने जब गीता के घर में प्रवेश किया तो सुशी ने देखा, मालकिन घर में नहीं थीं। दोनों ऊपर पहुँची। कोने वाले कमरे से आवाजें आ रही थीं। दोनों ठिठक कर खड़ी हो गईं और ध्यान से सुनने लगीं—

'नहीं-नहीं, आप मेरी चिन्ता छोड़िये। अब मैं स्वस्थ हूँ। आप सुबह के आये हुए हैं। घर वाले चिन्ता करते होंगे।' यह गीता की आवाज़ थी।

'पर मुझे तुम्हारे सान्निध्य में स्वर्ग का-सा आनन्द मिलता है। उस आनन्द को खोकर तो मैं कहीं का नहीं रह जाऊंगा, गीता। मेरी बात का यक़ीन करो।' यह किसी मर्द की आवाज़ थी। आवाज़ में कम्पन, गिड़गिड़ाहट। आर्द्र स्वर। याचना में लिपटा हुआ।

'मेरे कहने से अब आप जाइये। इसे मेरी विनती समझिये।' गीता का स्वर।

'अच्छी बात है, मैं चला जाता हूँ' पुरुष का सूखा-सूखा-सा स्वर।

'आपने मेरे लिये जो कष्ट उठाया है, उसके लिये सदा आभारी रहूँगी।'

'यह कौड़ी-पाई का हिसाब तुम ही रखती रहो, गीता। मेरे पास इतनी फुर्सत कहां ? मैं तो यही समझता हूँ कि मैंने कुछ नहीं किया।'

'मरने से मुझे बचा लिया—यही क्या कुछ कम है ?'

'ऐसी बातों को मैं तुम्हारी प्रगल्भता के अतिरिक्त और क्या समझूं ?'

'..........................'

'अच्छा तो मैं चलता हूँ।'

'..........................'

वह शक्स बाहर आया। कुछ ठिठका, और फिर तेज़ी से चल दिया। सुशी ने पहचान लिया, निरंजन कुमार ही थे। उसने ईला को धीरे से बताया—चन्द्रमुखी के भैया हैं, निरंजन कुमार।

इसके बाद दोनों ने भीतर प्रवेश किया। सुशी को देखते ही गीता एक दम खिल-सी गई। वह भागकर उसे लिपट गई। फिर ईला और गीता ने हंसकर नमस्ते किया। दोनों बैठ गईं।

कुछ देर बीमारी, उपचार आदि के बारे में बात-चीत होती रही। यशपाल चाय रख गया था। तीनों ने मिलकर चाय पी। गीता ने बताया कि अब सिर्फ़ कमज़ोरी रह गई है। दो-चार दिन में कालेज जाना शुरू कर देगी।

आधे घंटे तक इधर-उधर की बातें होती रहीं और फिर दोनों वहां से लौट आईं।

घर आकर ईला केवल एक ही एक बात सोचती रही। इस गीता को सभी प्रेम करते हैं। ऐसा इसमें क्या है ? कौन सा कौशल है, जिससे यह औरों को अपनी ओर आकर्पित कर लेती है ? यह कितनी विजयी है, कि सभी इसके पास याचना लेकर आते हैं। उमाकान्त बाबू,

निरंजनकुमार, सब के सब।.........और एक वह खुद है—न किसी की आंख का नूर है, न किसी के दिल का अरमान और न किसी का बहका हुआ खयाल।

यह विचार आते ही उसके मन में ईर्ष्या जाग उठी। उसके भीतर की नारी गीता की प्रतिद्वन्द्वी होकर रह गई।

उस समय उसके मन की विचित्र स्थिति थी। एक संघर्ष-सा उसके भीतर चल रहा था—स्वार्थ का। किस तरह वह उमा को हासिल कर सकती है?

स्वार्थ का अधिकार से सामंजस्य है और अधिकार में प्रेम नहीं टिकता। वह विसर्जन होता है। पर इस समय तो ईला के ज्ञान-चक्षुओं पर धुंध फैली हुई थी। उसे भले-बुरे अथवा औचित्य-अनौचित्य का ज़रा भी खयाल नहीं था। स्वार्थ-पूर्ति में हृदय-हृदय नहीं रहता, उसे और कुछ बनना होता है। यहां 'मॉरेल', 'कानशन्स' कुछ दख़ल नहीं रखते। वे भविष्य के दण्ड से नहीं डरते बल्कि हृदय उन्हें विपरीत दिशा में उकसाता और प्रोत्साहित करता है। और कुकर्म आत्मा का सन्तोष बनता है।

ईला का वर्तमान मन, स्थिति, कुछ इसी प्रकार की थी। उसका स्वार्थ-लोलुप हृदय खतरनाक मंसूबों में हचकोले खा रहा था। वह छल से, कपट से, किसी भी तरह उमा को अपना बनाकर रख लेना चाहती थी—गीता से छीन कर। पर क्या, यह न्याय होगा गीता के साथ? उस निरपराध, छल-प्रपंच से अनभिज्ञ और अबोध बालिका के साथ? क्या इस प्रकार धोखा देना शोभनीय होगा? पर बिना इसके कोई दूसरा उपाय नहीं है। स्वार्थ-पूर्ति के लिये और कोई रास्ता नहीं है उसके पास। वह इस पथ पर अग्रसर नहीं होती है तो उसे उमा से सदा के लिये हाथ धोना पड़ेगा। फिर जीवन में रह ही क्या जायगा—सिवा रिक्तता के, नीरसता के, जड़ता के, विद्रूप के?

वह सोच रही थी—उसे क्या करना चाहिये। वह सोच रही थी—एकाग्र, एकस्थ, एकनिष्ठ होकर। एकाएक उसे तरकीब सूझी।

उसका कुटिल मन हर्ष विभोर हो उठा।…………ठीक है, वह यही करेगी, ऐसा ही करेगी। एक दम ऐसा ही। आखिर कुकर्म सन्तोष बन गया।

बाहर कोई पुकार रहा था।

वह सहमी-सहमी गई। वह कुछ अविदित तौर पर डर रही थी। पुकारने वाला उसे एक निमन्त्रण पत्रिका थमाकर साइकिल पर सवार हो गया।

कुमुद की शादी का कार्ड था। उसकी अन्तरंग, सखि माया की छोटी बहन कुमुद की शादी का। दो दिन शेष थे।

× × × ×

हृदय के किसी नर्म कोने से सहसा पीड़ा का स्फुरण हुआ और एक टीस-सी उठी। विस्मृति की चेष्टा में असफलता। व्याकुलता और अधीरता। ज्ञान-विहीन बुद्धि, चेतना-विहीन शरीर, सजल नयन, जड़वत् और मूर्तिमान काया गर्म-गर्म निःश्वासें और अकुलाया हुआ उच्छ्वास। संवेदन स्वल्प-चेतन।—इसे इन्सान ने 'याद' की संज्ञा दी।

आज गीता को मास्टरजी याद हो आये तो आखें डबडबा आईं।

प्रायः सभी आये और मिल-मिलकर चले गये किन्तु जाने वालों की भीड़ में जिसकी अनुपस्थिति सदैव खटकती रही, वह दिखाई न दिये। और गीता को इससे धक्का-सा लगा। वह अव्यक्त और अपूर्व रूप से मास्टरजी का आना चाहती रही पर उसे निराशा ही मिली। वह भीड़, अपनापन लिये हुए उस भीड़ के लोग, जो गीता के कुछ 'अपने' होने का दम भर गये—क्या सचमुच उसे आकर्षक और 'अपने' जंचे ? मिलकर, कुशल-क्षेम पूछकर जो उसे दर्शाया, उसी को पकड़कर क्या उसे वह सन्तोष की चरम सीमा समझ ले ? अपनी अर्द्ध-चेतनावस्था में और चेतना में प्रतिपल और प्रत्येक अवस्था में जो

मास्टरजी की स्मृति उसके हृदय से विलग नहीं हुई—वह क्या प्रबल ग्रौर उग्र असन्तोष की पराकाष्ठा न थी ?

सबको ठेल-ठाल कर वह उस अवकाश-प्राप्त और अस्वस्थ-सी गीता को अत्युक्त हद तक विमूढ कर रही थी। पर इतना सब कुछ होने पर भी जो भाव उसे डरा रहा था, वह था-उसके हाथों किया गया मास्टरजी के प्रति रुक्ष तथा अवहेलना पूर्ण, ग्रभद्र व्यवहार। दूसरे शब्दों में उनका तिरस्कार। ऐसा व्यवहार था वह-जिसका प्रतिकार समझ में नहीं आ रहा था। उसे ऐसा कुछ विश्वास हो चला था, जैसे अब मास्टर जी नहीं आवेंगे।

पर नहीं, वह उन्हें बुलायेगी। उनके पैरों में गिर पड़ेगी। उनसे क्षमा माँगेगी। उसके बुलाने पर वह अवश्य आयेंगे और वह किसी तरह उन्हें प्रसन्न कर लेगी।………जैसे-जैसे देर हो रही है, उसका अपराध जैसे बढ़ता जा रहा है ग्रौर क्षमा दुर्लभ होती जा रही है। उफ़, उसके पंख नहीं हैं वरना फौरन उड़कर पहुँच जाती उनेक पास।

निर्जन कमरे में याद ऐसी घनीभूत हो गई कि उसने पास पड़ी कॉपी में से कागज़ फाड़ा और पैन लेकर लिखने बैठ गई—

मास्टर जी,

पहली बार ग्रापको लिख रही हूं। बहुत ही लाज आ रही है मुझे, पर क्या करूं ?……मैं जानती हूं, आप हमारे यहाँ नहीं आवेंगे। इसी-लिए लिख रही हूं। सोचती हूं, क्या मेरे इस तरह पत्र लिखने से ग्राप आ जावेंगे ?

सुनिये, मैं आपको बुला रही हूं। मैं स्वयं आती पर किस मुंह से आऊं ? जब तक प्रतिकार न कर लूं, ग्रापके पैरों में गिरकर क्षमा न माँग लूं, मेरी आत्मा संतप्त ही रहेगी।

आपसे मेरी विनती है—आप मुझे निराश न करें।

कल संध्या को मैं आपकी राह देखूंगी।

—गीता।

लिखे हुए पत्र को उसने दोबारा पढ़ा और लजा गई। क्या कहेंगे मास्टरजी ? यही न, कि इसे बहुत लिखना आ गया।......वह विचारों में बह-सी गई।

तभी, यशपाल ने शादी का एक निमन्त्रण-कार्ड उसे दिया। उसने बताया कि अभी-अभी नीचे एक आदमी देकर गया है। गीता ने उसे झट से खोल कर पढ़ा। कुमुद के विवाह का निमन्त्रण पत्र था।

'अरे, मेरी सहपाठनी कुमुद का ब्याह !' उसके मुंह से सहसा निकला—'मैं ज़रूर सम्मिलित होऊंगी। कल दिन में हो आऊंगी।....'

यशपाल जाने लगा तो उसे रोक कर उसने कहा— 'सुन तो यशपाल, यह पत्र सेवा सदन में मास्टरजी को तो ज़रा दे आ।'

'सेवा सदन क्या बीबीजी ?'

'वह है न रे, उनके संघ का दफ़्तर।'

'अच्छा.........अच्छा.........वो जो सीनेमा के सामने है। केसरिया झण्डे वाला ?'

'हाँ, वही।'

यशपाल जाने लगा।

गीता ने उसे रोकते हुए कहा—'और सुन तो, चिट्ठी किसी और को नहीं देना। अगर वह वहाँ न मिलें, तो वापस ले आना।'

'जी अच्छा, बीबीजी।'

आधे घण्टे बाद यशपाल ने आकर बताया—'जी दे आया।'

'कुछ कहा तो नहीं ?' गीता ने अधीर हो पूछा।

'नहीं, कुछ नहीं बोले।'

गीता ने तृप्ति की घूंटली। उसकी अन्तरात्मा जैसे खिल उठी। उस दिन मालकिन ने देखा, कि गीता आज बहुत ही खुश-खुश है, बहुत ही तत्पर !

बाईस

कुमुद और माया शहर के सुविख्यात सिविल सर्जन की लड़कियाँ थीं। माया का विवाह तो दो साल पूर्व हो चुका था और कुमुद ही अन्तिम कन्या बच रह-रह गई थी, सो उसे भी वह उच्चकुल के प्रतिष्ठित डॉक्टर निगम को सौंप रहे थे। डॉक्टर सुन्दर, विचारशील और स्वावलम्बी थे। तो उन्हीं के अनुरूप कुमुद सौंदर्य में वेजोड़, हँसमुख और शीलवती थी। अपनी लाड़ली बेटी के इस अन्तिम ब्याह में कुमुद के पिता दिल खोलकर पैसा खर्च कर रहे थे ताकि कोई अरमान बाकी न रह जाय। वह चाहते थे कि ब्याह हो, तो ऐसा कि देखने वाले चकित रह जाएँ। इसलिए जो भी व्यवस्था की गई थी उससे पग-पग पर उनके धन, प्रतिष्ठा, कीर्ति और वैभव का परिचय मिल रहा था।

कोठी दमक रही थी। शामियानों की नयनाभिराम साज-सज्जा। शहनाई और नगाड़ों की आवाज़ शहर को आमंत्रित करती हुई। चांदी के पात्र, आरती, फूल-चंगेर, धूप-दान मांजे और चमकाये जा रहे थे। मेवा, फल, धूप, बत्ती और फूलों की राशि सजाई जा रही थी। दास-दासी व्यस्त थे। नीचे-ऊपर सुन्दरियों का जमघट और कटाक्ष। चमकीली वस्तुओं का झलमला, फूलों के हार का सौरभ और रसिकों के बसन में लगे हुए गन्ध से खेलता मुक्त पवन। एक उत्तेजित करने वाला वातावरण।

गीता ने द्वार से ही यशपाल को लौटा दिया और घण्टे भर बाद आकर ले जाने का आदेश दे दिया। फिर वह स्वयं बचती-बचती भीतर प्रवेश कर गई। पूछने पर पता चला कि कुमुद वो उधर है, उस कमरे में। सो वह उधर चल दी।

कुमुद उसे देखते ही खिल उठी। खींचकर पास बिठा लिया।

गीता ने देखा—कमरे में ईला मौजूद थी और दो-एक लड़कियाँ और थीं। दोनों एक दूसरे को वहाँ देखकर आश्चर्य-चकित रह गईं। संक्षिप्त

मुस्कान में दोनों ने परस्पर 'नमस्ते' किया । ईला अपेक्षाकृत अधिक प्रफुल्ल दिखाई दी ।

कुमुद ने परिचय कराया—' यह हैं ईला देवी······'

'हम परिचित हैं—' बीच में ही रोकते हुए गीता मुस्कराकर बोली।

'और मैं हूं, कुमुद की बड़ी बहन माया ।' माया सरल हंसी-हंसते हुए गीता के तनिक निकट आकर बैठ गई ।

कुमुद की यह विहँसती-सी बहन गीता को मन ही मन भाई ।

'और जीजी, यह है गीता—मेरी सहपाठिनी । अभी फ़र्स्टडिविजन से ऐसा हाथ मारा है इसने कि सब भोंचक्क रह गये—' कुमुद बोली ।

माया को यह शान्त, संयत गीता बहुत ही भाई ।

कुछ देर बाद कुमुद ने पूछा—'बड़ी कमज़ोर हो गई हो गीता ? क्या बीमार रहीं ?'

'हाँ, बीमार थी ।'

'अब कैसी तबियत रहती है ?'

'ठीक है, तभी आ सकी ।' गीता ने हँसकर जवाब दिया ।

'अरे हाँ, वो बातूनी चन्द्रमुखी नहीं आई ?' कुमुद बोली ।

'इनवाइट किया होगा तो जरूर आयेगी ।'

'अरे, उसकी भली चलाई' । वह तो ऐसी है कि बिना इनवाइट किये ही आ धमके ।'

सब हँस पड़ीं । माया किसी काम से उठकर चल दी । गीता ने ध्यान से कुमुद को देखा । दुल्हन बनी वह कैसी प्रिय लग रही थी । क्षण भर में उसका मन मधुर-मधुर कल्पनाओं से भर गया । कपोल अरुण हो उठे । कान की लवें सुर्ख पड़ गईं ।

'क्या सोचने लगीं ?' कुमुद ने मीठी चुटकी भरी ।

'यही कि तुम कैसी सुन्दर लग रही हो ।' वह धीमे से बोली ।

कुमुद ने लजाकर दृष्टि नीची करली ।

गीता ने कटाक्ष फेंका—'क्यों शादी की ऐसी जल्दी मची कि कॉलेज-वालेज सब छोड़ दिया ? हमें ख़बर तक नहीं ?'

कुमुद लाज में कुछ और सिमट गई । गीता ने हौले से पूछा—'कैसे हैं तुम्हारे 'वह' ?'

'मैं क्या जानूँ ।' कुमुद ने दृष्टि झुका ली ।

'तो अब जान लोगी—खेद मत करो ।' गीता ने फिर छेड़ा ।

'देख गीता, मैं अब भाग जाऊँगी ।'

'कहाँ ? तेरे 'उन' के पास ?'

कुमुद लाज में झुक गई ।

तभी माया आ गई । कुमुद को मानो टिकने की जगह मिली ।

नौकर फल और मिठाई की तश्तरियाँ रख गया । सब ने खाना शुरू किया ।

'यह तो बता, तू कब ब्याह कर रही है ?' अब कुमुद की बारी थी ।

बात सुनते ही ईला संभल कर बैठ गई । अधीर हो, उत्तर की प्रतीक्षा करने लगी । दिल धड़कने लगा ।

गीता को ऐसे प्रश्न की आशा न थी । एकाएक घबरा-सी गई । फिर कुछ संभलती हुई स्वाभाविक भाव से बोली—'मुझे तो अभी ब्याह की जल्दी नहीं है—तुम्हारी तरह । जब होगा, अपने आप मालूम हो जायगा ।'

उत्तर सुनकर ईला के जान में जान आई । मुँह का कौर अब गले के नीचे उतरा ।

तो कुमुद की जीजी ने छेड़ा—'तेरा क्या हाल है ईला ?'

ईला का स्पन्दन तीव्र हो गया । क्षण भर वह भीतर ही भीतर अपने मन से लड़ती रही । सहसा हृदय विप्लवी हो गया । दृढ़ स्वर में बोली—'मैंने अपना इन्तज़ाम कर रक्खा है ।'

गीता ने भयभीत दृष्टि से ईला की ओर देखा। उसका कण्ठ सूखने लगा।

माया खिल-सी गई—'अरे वाह, वन्डरफुल, ब्रेवो ईला, ब्रेवो। क्या नाम है, जल्दी बता।'

ईला की बुद्धि चकराने लगी। वह चुप रह कर बाह्य लज्जा का अभिनय करने लगी।

गीता ने तीक्ष्ण दृष्टि से ईला को देखा। एक अज्ञात आशंका और उद्वेग से वह क्षत-विक्षत होने लगी।

माया का कौतुहल बढ़ गया था। स्नेह के साथ अनुरोधपूर्ण स्वर में बोली—'बता न ईला, क्या नाम है उनका ? ईसाइयों में तो ऐसा संकोच नहीं होना चाहिये।'

ईला अब भी चुप थी। गीता का दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहा था। माया पीछे पड़ गई।

तो धीमे से ईला बोली—'उमाकान्त……' और आँखें झुका लीं।

गीता काठ की पुतली के समान बैठी रह गई। छाती में चलते-चलते दिल रुक गया। तीव्र कण्ठ से बोली—'कौन उमाकान्त ?'

माया और कुमुद ने अचकचाकर गीता की ओर देखा।

ईला ने अविचलित कण्ठ से उत्तर दिया—'जन संघ वाले।'

जैसे एक शीतल, तीव्र तीर गीता के पैर से घुसकर सिर से निकल गई। मानो उसकी देह के सारे घावों के बन्द खुल पड़े, उसके मस्तिष्क के सारे परमाणु हवा में उड़ गये। मानो नीचे से धरती हट गई और वह निःस्पन्द, निराधार, निर्जीव-सी लटकी रह गई।

पल भर के लिये ईला के मन की पिशाचिनी ज़ोर से हँसी।

माया और कुमुद दोनों ही हतबुद्धि-सी गीता की उस विचित्र हालत को देखती रह गईं। उनके कुछ समझ में नहीं आ रहा था।

तत्काल माया ने विस्मय के साथ पूछा—'किन्तु ईला, वह तो हिन्दू हैं, फिर तेरा ब्याह उनके साथ ?'

ईला ने हँसकर कहा—'वह जात-पांत को अधिक महत्त्व नहीं देते। जो दिमाग कबूल करता है, वही करते हैं बस।'

माया ने मृदु कण्ठ से कहा—'बधाई ईला। तू सच, किस्मत वाली है, जो तुझे एक रत्न मिला।'

'हाँ, मेरे भाग्य में अब तक दुःख ही दुःख बदा था। अब सुख देखूँगी।' ईला ने विह्वल होकर कहा। कुछ रुककर बोली—'मुझे आशीर्वाद दे माया। मेरे स्वप्न सच्चे हों।'

सिर पर हाथ फेरते हुए माया ने मृदुल स्वर में पूछा—'कब हो रही है शादी ?'

'निकट भविष्य में।' उसने धीमे से बताया।

गीता एकदम ज्ञान शून्य-सी, चेतना-वेदना विहीन प्लेट को देख रही थी। केवल प्लेट को, जिसमें रखी मिठाइयाँ विष हो गई थीं।

सहसा, उसे जैसे होश आया। चौंककर, सूखी हँसी में किसी प्रकार बोली—'मेरी ओर से बहुत-बहुत बधाई। आप वास्तव में बहुत भाग्यशालिनी है।'

माया ने और कुमुद ने भी देखा—गीता का स्वर काँप रहा था। स्वर रुद्ध था और होठ धूज रहे थे। क्यों धूज रहे थे ?……

ईला भीतर ही भीतर सिहर उठी।

तेईस

मालकिन कब की रामदीन के यहाँ कथा में गई हुई थीं और अभी तक लौटने का नाम नहीं लिया था। वह तो कुछ भी नहीं सोचतीं। पानी है, छींटा है। घर चलना चाहिये। जाकर ही बैठ गईं।

दोपहर के लगभग दो बज रहे थे। घर आकर गीता धम्म् से पलंग पर गिर गई और फिर सुबकने लगी। वह आँसू जो इतनी देर से रुके

हुए थे, अब वेग से बाहर आने लगे। मानो आँसुओं की राह वह अंतिम स्मृति तक को बहा डालना चाहती थी। आज वह अपने पास कुछ भी बचाकर नहीं रखना चाहती थी। सभी संचित अभिलाषायें, सभी अरमान खंडित हो चुके थे। सारे मोह के बन्धन आज जैसे टूट गये थे। उसके पास अब रहा ही क्या था? जो कुछ शेष था—उसे भी वह आँसुओं की राह बहा देना चाहती थी।

रुदन में उल्लास निहित है। स्पष्ट रूप से उसमें शान्ति का पुट होता है—उसमें वही होता है, जो हँसी में नहीं होता। हँसी के बाद मन खिन्न हो जाता है, आत्मा क्षुब्ध हो जाती है—मानो हम थक गये हों, पराभूत हो गये हों। रुदन के पश्चात् एक नवीन स्फूर्ति, एक नवीन उत्साह का अनुभव होता है। उस वेदना में मस्तिष्क एक दृढ़ निश्चय-सा कर लेता है और हृदय विकार-रहित, निर्मल और ऊर्जस्वित बन जाता है।·········रोते-रोते गीता ने अपने आँसू पोंछ लिये और फिर बोझिल मन से सोचने लगी—'मेरा संशय सत्य ही निकला। चलो, आज समाधान हो गया। एक तरह से कहानी का 'प्राण' खो गया·····!'

उसकी आँखों में बचे-खुचे आँसू फिर एकत्र हो गये।

तभी, उसकी विचारधारा दूसरी ओर प्रवाहित हुई।······हो सकता है, ईला ने यह सब झूठ कहा हो। केवल उसे जलाने और दुःखी करने के भाव से ही कहा हो। उसका और मास्टर जी का हृदय पाटने के अभिप्राय से ही कहा हो। हो सकता है, इसमें भी कोई चाल हो। मास्टरजी से पूछ देखा जाय? वास्तविक स्थिति का पता चल जायगा। मास्टरजी झूँठ नहीं बोलेंगे।······

पर ईला झूँठ क्यों कहने लगी? उसे झूठ बोलने से क्या मिलेगा? आखिर उसने माया और कुमुद के सामने उससे यह बात कही थी और वह भी इतने अधिकार के साथ। कोई झूठ थोड़े ही हो सकता था।······

नहीं-नहीं, वह इस विषय पर मास्टरजी से कुछ भी नहीं कहेगी। इस बारे में बात करना ही असंगत है, अशोभनीय है। उनकी नज़रों

में गिरना है। ऐसा काम वह हरगिज़ नहीं करेगी। यह उनका अपना व्यक्तिगत मामला है। वह कुछ भी कर रहे हैं, उनके बीच बोलने वाली वह कौन होती है ? यह उनकी 'प्राइवेट लाइफ़' है। जो कुछ उन्होंने उचित समझा, किया। वह उसमें दखल देने वाली कौन ? ईला के सौभाग्य-सुख को लेकर ईर्ष्या करने वाली वह कौन ?……

जो भाग्य में था सो हुआ। अपनी निराशा और पराजय पर अब ईला की खुश किस्मती से स्पर्धा रखना कहाँ तक न्यायोचित होगा ?……

वह फिर से रोने लगी।

भविष्य के वह मधुर-मधुर स्वप्न, स्वप्नों की मादकता, मिठास और रंगीन आकांक्षायें विद्रूप की हँसी हँस-हँसकर उसे नोंच रही थीं और वह चकराई-सी अंधड़ में बह रही थी। वह नहीं जानती थी, यह अन्धड़ अब उसे कहाँ ले जाकर पटकेगा।

बाहर ज़ोर की हवा चल रही थी। ऊपर काले-काले बादल घिरे हुए थे। रह-रह कर वायु का तेज़ झोंका दरवाज़े और खिड़कियों को बजाता हुआ गुज़र जाता था। पर्दे उड़ रहे थे। बाहर जो अन्धड़ था— उसमें उन्मत्तता थी। रोष था। शोर भी था। गीता के मन में जो अन्धड़ चल रहा था—अपेक्षाकृत वेगवान था, पर निःशब्द और मूक था।

उसने आँसू पोंछ लिये और खिड़की पर आ खड़ी हुई। कुछ देर निरुद्देश्य-सी वहाँ खड़ी दूर-दूर कुछ देखती रही और फिर वहाँ से हट गई। घड़ी में चार बज रहे थे। वह सिहर उठी। मास्टर जी आते ही होंगे। वह शून्य भाव से, निःस्पन्द, मानो गतिहीन और स्तब्ध उस कमरे में घूमने लगी। निःस्तब्ध कमरे में केवल उसकी अश्रु व्याकुल सघन निःश्वास ही लहरा-लहरा कर फूल रहा था।

शीतल वायु के एक झोंके ने साड़ी के छोर को माथे पर से हटा दिया। इसका उसे ध्यान ही नहीं। कितनी ही देर वह उसी विक्षिप्त-सी अवस्था में चक्कर काटती रही।

एक झोंका फिर आया। दरवाज़े हिले। वह चौंकी किन्तु फिर तत्काल ही प्रकृतिस्थ-सी घूमने लगी।

अंधेरा बढ़ता जा रहा था।

मन की ऐसी भी अवस्था होती है जब नेत्र खुले होते हैं किन्तु दिखता कुछ नहीं। कान होते हैं पर सुनाई कुछ नहीं देता। यही अवस्था उस समय गीता की भी थी।

सहसा उसने सुना—नीचे कोई पुकार रहा था। कोई दरवाज़े खटखटा रहा था। वह दौड़ी-दौड़ी नीचे उतरी—शायद माँ आई होंगी। उसने किवाड़ खोले। और कलेजा धक् से रह गया। उसके मुँह से निकला—'मास्टर जी !'

और तभी रूलाई फूटकर बाहर निकलने को हुई किन्तु उसने अपने आप को यत्न से संभाला।

उमा भीतर आ गया। गीता ने द्वार बन्द किये और चुपचाप नीची गर्दन किये ज़ीने पर चढ़ने लगी। उमा पीछे-पीछे आता रहा। कुछ देर बाद दोनों एक कमरे में आकर बैठ गये।

सिर के बाल-ललाट पर बिखर गये थे, अतः उमा रुमाल से उन्हें ठीक करने लगा। दोनों मौन थे। उस निस्तब्ध कमरे में दो प्राणियों के रहते हुए भी सन्नाटा छाया हुआ था। बाहर रह रहकर बादल गरज रहे थे।

गीता का सांस फूल रहा था, मानो दम घुटता आ रहा हो। उमा प्रेम-भाव में डूबा, हतबुद्धि-सा मानो सोच रहा हो कि बात किस तरह आरम्भ करे।

कुछ देर बाद उसने कहा—'मुझे तुम्हारी चिट्ठी कल मिली थी।'

गीता की समाधि मानों टूटी। चेहरे पर बलपूर्वक हँसी लाने की चेष्टा करती हुई बोली—'आप कुछ भीग गये हैं। ठहरिये······' यह कह, वह दूसरे कमरे में गई और एक चादर लाकर उमा के कन्धों पर लपेट दी।

उमा की देह स्नेह की उष्णता से मानो गरमा गई। मन-ही मन उसने सोचा क्या वास्तव में वह इस स्नेह के योग्य है भी ? गीता के इस विचित्र स्नेह के आगे क्या संसार के सारे वैभव तुच्छ नहीं हैं ? ससार की समस्त वस्तुएं क्या इस पर न्योछावर नहीं ?……दिल में, जो एक कसक उसे सदैव सन्तप्त रखती आई थी, अभी-अभी सहसा उग्र हो उठी। उसने सोचा, इस मीठी वेदना की कसक, वियोग की अनुभूति और गीता को लेकर उसके मन में चल रहे अब तक के मूक संघर्ष को आज क्यों नहीं वह उस पर व्यक्त करदे ? जो-जो उसके हृदय में उठता आया है, क्यों नहीं गीता को आज साफ-साफ बतादे ? आज तक के अपने संयम और ज़ब्त की समर्थता में वह केवल घुलता ही तो रहा हैं। क्यों नहीं वह आज अपना सब कुछ इस पास बैठी गीता पर उलींच दे और छुट्टी पाये ?

उसने सहमी हुई दृष्टि से गीता की ओर देखा, फिर अत्यन्त स्नेह से सने स्वर में कहा—'देखो न, कैसी दुबली हो गई हो। ऐसी बीमार रहीं और मुझे ख़बर तक न दी ? मुझसे दुराव किया। ठीक ही तो है, मैं तुम्हारा कौन होता हूँ ?'

बात ने गीता के प्राणों में एक हलकोर-सी पैदा कर दी। आंसू बाहर आने की चेष्टा करने लगे। किन्तु तत्काल ही वह संभली। सोचा, कैसा बना रहे हैं मुझे ? जैसे कुछ ज़ानते ही नहीं बेचारे। मेरी बीमारी की ख़बर से मानो एकदम अनभिज्ञ हों। सभी आये, पर इन्हें कहां अवकाश ? क्या सुना नहीं होगा ? किसी ने तो बताया होगा। सुशी ने, ईला ने, महरी ने ? पर यह क्यों आने लगे ? ईला से फ़ुर्सत पायें तब न ! और अब दोष मुझ पर ही थोप रहे हैं। कैफ़ियत देने का अच्छा ढंग है यह। शब्दों का आश्रय जो मिल जाता हैं।………

कृत्रिम हंसी हंसकर कहा—'आप मेरे कुछ कैसे नहीं ? आप मेरे गुरु हैं, पूज्य हैं।'

उमा कुछ मुस्कराया। आज उसके मन में तरह-तरह के विचार

आ रहे थे। और उसे विश्वास था कि यह विचार आज अवश्य पराये हो जावेंगे।

बाहर, उसी वेग से वायु के झोंके और हल्की फुहारें गिर रही थीं। शरीर में रह-रह कर कपकंपी-सी हो उठती थी।

सहसा गीता वहां से हट गई। कुछ क्षण पश्चात् वह दूसरी साड़ी लपेट कर वापस आई और बोली—'मुझे ठंड लगने लगी थी।'

उमा विचारों में यह बात भूल ही गया था कि गीता बीमारी से उठी है और उसकी कमजोरी की हालत है अभी।

बोला—'आओ, मेरे पास बैठ जाओ। यह चादर ले लो।'

—उसे चादर-वादर नहीं चाहिये। वह तो आपके सामीप्य को दूर से ही नमस्कार करती है। ईला की प्राप्ति के उपरान्त भी क्या गीता जैसी लड़की को पास बिठाने का चाव वैसा ही बना हुआ है? आश्चर्य······

सरल भाव से कह दिया—'नहीं, मैं ठीक हूँ।'

और न जाने क्यों, उमा को इस गीता पर इतना प्यार आ रहा था। वह सोचता था—इसको मैंने अधिकतर रुलाया ही तो है। इसके अलावा मैंने किया ही क्या है? उसकी सारी करुणा, सारी दया जैसे उस पर उडल जाने को हुई।

वह बहुत ही प्यार से बोला—'मेरे विचार से गीता, तुम्हें वायु-परिवर्तन के लिये मेरे साथ कुछ दिनों के लिये किसी गांव में चलना चाहिये। इस समय सबसे उपयुक्त पीपल गांव रहेगा। वहां आश्रम है, हमारा दफ़्तर है। मैं तुम्हारे साथ रहूँगा।'

'नहीं, मैं नहीं जा सकती—' सूखी हंसी हंसकर गीता ने कहा।

'क्यों? मैं मालकिन की आज्ञा दिलवा दूं, तब भी क्या नहीं चलोगी?'

'ऐसा होगा तो मेरे स्थान पर पढाई कौन करेगा!' गीता ने जानकर दूसरी उलझन डाली।

'पढ़ाई तो हो सकती है। कुछ दिन बाद भी कर सकती हो। सेहत ही अगर ठीक नहीं होगी तो क्या कुछ होगा?'

एक दृढ निश्चय के साथ गीता बोली—'सो तो है, पर मैं जाऊंगी नहीं।'

'ओ—' उमा का स्वर ढह पड़ा। वह सिर के बालों पर निरर्थक हाथ फेरने लगा। बातों का सिलसिला क्षण भर के लिए टूट गया। केवल सांसों की धड़कन महसूस होती रहीं। हवा का एक प्रबल झोंका आकर देह से लिपटता हुआ निकल गया। पर्दा उड़कर पुनः गिर गया।

उमा ने गीता पर दृष्टि संयत करके धीमे से कहा—'एक बात पूंछू गीता?'

'पूछिये।' गीता का दिल धड़कने लगा।

'तुमने पहली बार मुझे पत्र लिखा।'

'हां।'

'पत्र द्वारा तुमने मुझे बुलाया।'

'हां।'

'क्या मैं जान सकता हूँ कि किस भाव ने तुम्हें पत्र लिखने को प्रेरित किया था?'

'वैसे ही लिख दिया था मैंने।'

'सच कहती हो? दिल पर हाथ रख कर?'

क्षण भर रुकी रही वह।

'क्या मैं जान सकता हूँ कि तुमने मुझे यहां क्यों बुलाया था? किस अभिप्राय से? क्या सोचकर?'

वह कुछ नहीं बोली, उसका मुंह विवर्ण हो उठा।

'यदि नहीं बताती हो, न बताओ—' उमा ने भावातिरेक में कहा।

जैसे कोई भूली हुई बात सहसा याद आ गई हो, इस प्रकार गीता झट से बोली—

'अपने उस दिन के अभद्र व्यवहार का प्रतिकार करने और आप से क्षमा-याचना करने हेतु ही मैंने आपको बुलाया है ।' यह कह, उसने मुक्ति की सांस ली—

'सच कह रही हो ? अथवा मन में कुछ छिपा कर रख रही हो ?'

'.. ......' एक उच्छ्वास ।

'बोलो गीता—' उमा के स्वर में अनुरोध था। कुछ ऐसा था, जो प्राणों को ज़ोर से ऐंठ रहा था ।

'क्या बोलूं मास्टर जी ?' कांपते स्वर में गीता ने पूछा ।

'सिर्फ अपने दिल की बात । अधिक कुछ नहीं ।'

गीता को लगा, जैसे वह किसी विचित्र से मादक बहाव में बहती चली जा रही है । पता नहीं, इस बहाव की इति कहां होगी, उसका स्पन्दन तीव्र हो चला । वह मौन बनी, उस मादकता से नहाई-सी बैठी रही ।

'एक बात कहूँ गीता ?'

गीता ने नीची दृष्टि किये स्वीकृति-सूचक सिर हिला दिया ।

उमा क्षण भर रुका, फिर बोला—'मेरे साथ शादी कर लो गीता—' वह मानो एक सांस में कह गया । कह तो गया, फिर जैसे विस्मय में डूब गया ।

लज्जा से गीता ने अपना मुँह दोनों हाथों में छिपा लिया । उसे लगा, जैसे अभी-अभी खुशी से उसका कलेजा फट जायगा । वह मूर्च्छित हो जायगी और ....

थोड़ी देर बाद वह पुन: होश में आई और बोली—'आप तो मेरे गुरु हैं और मैं बान्धवी ! यह रिश्ता तो बहुत ही पवित्र है मास्टर जी ।'

उमा आवाक् रह गया। ऐसे उत्तर की उसने कल्पना तक न की थी। वह शून्य में जैसे कुछ टटोलने लगा। मानो अंधेरे में प्रकाश खोज रहा हो। टिकने को जैसे कहीं कूल-किनारा नहीं था।

गीता सोच रही थी—खुद तो पूर्ण हैं। मेरी अपूर्णता पर अब व्यंग करने चले हैं विवाह का प्रसंग लेकर। मुंह से यह बात कहते हुए तनिक सोचा भी इन्होंने? पर मैंने भी कैसा माकूल जवाब दिया। सोचते होंगे कि मैं गिड़गिड़ाऊंगी, प्रेम की भिक्षा माँगूँगी, शादी की याचना करूंगी। कहूँगी—मुझे अपना लो। ठीक है, इन्हें मैं अब पूर्ण होकर ही दिखाऊंगी।.........

इस भावना ने गीता को और कठोर कर दिया।

'सम्बन्ध अपनी जगह। शादी अपनी जगह। ऐसे सम्बन्ध में शादी वर्जित होती है, ऐसा तो मैंने आज तक नहीं सुना।' उमा ने तर्क का सहारा लिया।

गीता सूखी हंसी में बोली—'हां, पर आप इस बात को अब भुला दीजिये।'

'पर क्यों?' उमा के आश्चर्य के पीछे जैसे किसी ने शून्य जोड़ दिया था। क्षण भर गीता अपने से लड़ती रही, फिर अवरुद्ध कण्ठ से बोली—आपसे बिनती है, आप इस प्रसंग को नहीं छेड़ें।'

उमा विस्मित-सा गीता का मुंह देखता रह गया।

गीता की आवाज़ बहुत ही दुर्बल पड़ गई थी और होंठ कांप रहे थे।

'तो क्या तुम किसी और से शादी कर रही हो?' भर्राये कण्ठ से उमा ने पूछा।

गीता ने मन ही मन कहा—तुम मेरी शादी के लिये इतने उत्सुक क्यों? यह बाह्य उत्सुकता जताकर मुझे और अधिक धोखा नहीं दे सकते, मास्टर जी। आज तक धोखा खाती आई—यहां तक कि ईला द्वारा, तुम्हारे द्वारा, सारी कहानी का उपसंहार ही हो गया। अब शेष

क्या रहा ? जो कुछ भी छल से पूछ रहे हो, मैं सब समझती हूँ। मूर्ख नहीं हूँ। जिससे तुम्हें शादी करनी थी, उसे पहले ही ढूंढ़ लिया, यहां आकर तो केवल नाटक कर रहे हो।.........

कुण्ठित और अस्पष्ट से स्वर में वह बोली—'नहीं।'

'तो क्या यों ही रहोगी ?' व्यग्र भाव से उमा ने गीता को देखते हुए पूछा।

'हां।'

'यह सरासर झूंठ है। मैं नहीं मानता—' उमा का स्वर सहसा चीख उठा—'सुनो गीता, यह मेरी और तुम्हारी जिन्दगी का सवाल है। तुम सब जानती हो। जानकर भी तुम अनजान बन रही हो। तुम ऐसा क्यों कर रही हो गीता ? आखिर क्यों ? भावावेश में उसका स्वर कांपने लगा।

'पर मैं शादी नहीं करूंगी—' दृढ निश्चय जैसे स्वर में गीता बोली।

'मुझसे नहीं करोगी ?' उमा ज़ोर से चीख कर बोला।

'हां.........' और गीता मुंह को हाथों में ढ़ांप, धीरे से सुबक उठी।

उमा विस्फ़ारित नेत्रों से गीता को देखता रह गया। इस उत्तर ने उसे एक बारगी विमूढ कर दिया।........ क्या कभी भूलकर भी उसने सोचा कि गीता ऐसा उत्तर देगी ? ऐसा उत्तर जिससे उसके हृदय के टुकड़े हो जावेंगे, और संचित अरमान लहू-लुहान हो जावेंगे। उस पर जैसे कोई गाज गिरी हो।

क्रोध में, अपमानित से भाव में वह बोला—'मैं तुमसे कोई भीख नहीं मांग रहा था। यदि मन में ऐसा विचार हो तो उसे निकाल देना। मैं तो ....' और भावावेश ने सहसा उसके गले को अवरुद्ध कर दिया।

गीता के सम्मुख ब्रह्माण्ड घूमने लगा। उसे लगा, जैसे उसका दम घुट रहा है। वह विगलित कण्ठ-स्वर में बोली—'आप अन्यथा न समझें मास्टरजी, मैं आपके योग्य नहीं हूँ। बहुत ही तुच्छ हूँ.........' और आंसू गालों पर से बहने लगे।

उमा ने सोचा—यह सब कहने की बातें हैं। कहने की हैं, इसी से कह दी गई हैं। यह सब निर्मूल हैं।

उसका दम घुटने लगा था । वह उठ खड़ा हुआ ।

गीता वैसी की वैसी मठरी बनी और आंसू बहाती बैठी रही । निःस्पन्द और नीरव !

असीम वेदना और शून्यता भरे उमा वहां से चल दिया ।

गीता ने चीखना चाहा पर गला रुँध गया ।

दोनों अनुभव कर रहे थे जैसे उनका यह अन्तिम मिलन है । इसके पश्चात शायद नये जीवन का सूत्र-पात होगा । एक नई सरहद शुरु होगी ।

पर क्या वह वास्तव में नया जीवन होगा अथवा जीवन का विद्रूप ?

चौबीस

उमा उन्हीं सर्द और कुछ-कुछ गीले कपड़ों में पलंग पर जाकर गिर गया । दुखी भाव से वह कुछ देर छत की ओर ताकता रहा, फिर अन्यमनस्क भाव से उठकर खिड़की के पास जा खड़ा हुआ । घरों में बत्तियां जल रही थीं । लैम्प-पोस्टों से हल्का प्रकाश सड़कों पर गिर रहा था । उस छनते-हुए-से प्रकाश में आड़ी-तिरछी फुहारें चमक रही थीं। हवा का वह आलोड़न और वेग अब मद्धिम पड़ गया था—उसके अपने आन्तरिक तूफ़ान की तरह ।

सहसा कमरे में ज़नाने लिबास की सरसराहट हुई और चूड़ियाँ खनकीं ।

उसने चौंक कर दरवाज़े की तरफ देखा । ईला मुस्कराती हुई उसके पास आकर खड़ी हो गई ।

'अरे, यह क्या, आपके कपड़े तो गीले हैं ?' ईला ने उमा के कन्धे पर हाथ रखते हुए चौंककर कहा ।

'हां गीले हैं । बाहर गया था, भीग गया ।'

उसने उमा के चेहरे पर असीम वेदना और कठोरता देखी तो सहम गई। डरते-डरते पूछा—'कहां से भीग आये ?'

'गीता ने बुलाया था—वहीं गया था।' यह कह, वह ज़ोर से हंस दिया। फिर तत्काल गम्भीर होते हुए बोला—'पर तुम्हारा यहां इस समय कैसे आना हुआ ?'

ईला उमा की वर्तमान मन:स्थिति को लक्ष करके कांप उठी।

विचित्र हंसी हंसकर उमा बोला—'वह बीमार रही और मुझे बुलाया तक नहीं—' फिर उपालम्भ के स्वर में कहा—'मुझसे दुराव किया, ठीक नहीं किया उसने। कल मुझे चिट्ठी लिखकर आज बुलाया और जब मैं वहां गया, तो विचित्र-सी बातें करने लगी।'

ईला पल भर में उमा की व्यथा का कारण समझ गई।

तत्पर हो, बोली—'उसकी विचित्रता का कारण है। वह आपको क्यों बुलाने लगी ?'

'क्या मतलब ?' उमा की भवें तनीं।

'आपकी अब वहां कोई आवश्यकता नहीं है।' ईला ने गम्भीर होते हुए कहा।

'तुम्हें कैसे मालूम ?' उमा ने तीव्र कण्ठ से पूछा।

ईला ने कण्ठ-स्वर को परिष्कृत करते हुए कहा—'मैं सच ही कह रही हूँ। उसे अब आपकी आवश्यकता नहीं है। जब दूसरा शक्स उसकी आवश्यकता की पूर्ति कर देता है, तो फिर उसे आपकी ज़रुरत क्यों महसूस होने लगी ?'

'कौन दूसरा शक्स ? मैं पूछता हूँ, कौन है वो शक्स ?' उमा ने कड़क कर पूछा। उसके मन में उद्वेग और संशय की आँधियां चलने लगीं।

ईला ने शान्त कठिन स्वर में कहा—'निरंजन कुमार !'

'झूठ है—' उमा पागल होकर चिल्लाया—'गीता का उससे क्या सम्बन्ध ? ईला उसी शान्त, स्थिर स्वर में बोली—'मैंने अकेले कमरे में

दोनों को प्रेमालाप करते अपनी आंखों से देखा है। मालकिन नहीं थीं। मैं और सुशी दोनों उसकी बीमारी के दरमियान उससे मिलने गये थे। यदि मेरा विश्वास न हो, तो सुशी से पूछ देखिये।·· ······' उसके चेहरे पर कुटिल मुस्कान खेल रही थी।

'ईला—' उमा समस्त प्राणों का ज़ोर लगाकर चिल्लाया।

उसकी बुद्धि चकरा गई थी।

ईला बोली—'मैं तो आपको यह बात उसी दिन बताने वाली थी किन्तु कहना उचित नहीं समझा, चुप रह गई। सोचा, यह बात कब तक छिपेगी। कभी न कभी अपने आप फूटेगी। यह दुनिया बड़ी वैसी है, और एक आप हैं·········'

'ईला, बस करो। ईश्वर के लिये चुप रहो।' उमा विक्षिप्त-सी दशा में घूमने लगा। उसका दम फिर से घुटने लगा। वह ईला की छाया से डर रहा था। जैसे ईला ने उसे गर्म-गर्म सलाखें छुआ दी थीं और वह कराह उठा था। वह प्रेत से डग भरता हुआ कमरे से बाहर हो गया।

ईला भयभीत दृष्टि से उसे देखती रही।

उमा सड़क पर बिना किसी उद्देश्य के चलने लगा। वह नहीं जानता था, वह कहां जायेगा, उसे कहां जाना है।

चिन्ता जब अधिक हो जाती है, तब उसकी शाखा-प्रशाखायें इतनी निकलती हैं कि मस्तिष्क उनके साथ दौड़ने में थक जाता है। किसी विशेष चिन्ता की वास्तविक गुरुता लुप्त होकर विचार को चेतना-वेदना-विहीन बना देती है। तब पैरों से चलने में और मस्तिष्क से विचार करने में कोई विशेष भिन्नता नहीं रह जाती।·········उमा की भी यही अवस्था थी।

······दुनिया में कैसा छल-कपट है। जिस गीता पर वह मरकर भी अविश्वास नहीं कर सकता था, उसी गीता ने उसे धोखा दिया। यदि शादी की बात साफ़-साफ़ कह देती तो वह कौनसा उसकी जान

ले लेता ? सच कहने में उसे संकोच क्यों हुआ ? सत्य जान लेने पर मैं उसका क्या बिगाड़ लेता ?

……पर अब जब सारी हकीकत सामने आ गई है तो वास्तविकता पर दुःख मनाने अथवा आंसू बहाने से लाभ भी क्या होने वाला है ? चाहे रोऊँ, चाहे जान भी दे दूं। महत्व क्या है ? जो होना है, होकर रहेगा।

……मैं केवल एक अपरिचित-सा इस शहर में आया, गीता से परिचय हुआ, संस्कार दोनों को यहां तक साथ-साथ ले आये, और आज वह पुनः अपरिचित-सा पीछे छूटकर रह गया। इसमें दूसरों का क्या दोष ? गीता को अपना बनाने की भावना, स्वार्थ की वह भावना, और अब नहीं पाने का दुःख—कैसी विडम्बना है ? मुझे सब प्रारम्भ में ही सोच लेना चाहिये था। गीता को लेकर व्यर्थ ही अपना अधिकार-गर्व महसूस करता रहा, प्रसन्न होता फिरा। दरअसल, मैं उसका था ही कौन ?

……वह अपने दिल की बात कैसे कहदे ? माना कि उसके हृदय में मेरे लिए आदर-भाव हो, श्रद्धा भी हो, किन्तु फिर भी कोई अपना सब कुछ किसी से कैसे कह दे ? कई बातें ऐसी हैं, जो हम स्वयं से गुप्त रखना चाहते हैं और वह खुद के लिये भी एक रहस्य होती हैं।……

उमा का दम घुट रहा था। वह पैरों की प्रेरणा पर चलता जा रहा था। यंत्र चलित शव की तरह।

जब उसे होश आया तो घड़ी में ग्यारह बज रहे थे और तीन-चौथाई शहर सोया पड़ा था। वही एक ऐसा था, जो नीरव निशीथ में विक्षिप्त की भांति सड़कों पर चक्कर काट रहा था।

आख़िर थक कर वह घर लौट आया।

उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि जब उसका प्रत्येक स्पन्दन डंक की तरह उसे क्षत-विक्षत कर रहा है, प्रत्येक सांस जैसे विष की घूंट हो, जो धीरे-धीरे उसकी देह में फैल रही हो—तब वह कौनसा अवलम्ब है, जिसके सहारे वह जीवित है ? वह नहीं समझ पा रहा था

कि वह कौनसा मोह है जो आगे जीवित रहने को प्रेरित कर रहा है ? वह उसका ज्ञान है, पौरुष है अथवा पौरुष-विहीन आत्मा की दुर्बलता ? क्या है ?

× × × ×

रोज़ की तरह सुबह ही सुबह 'सेवा सदन' में लोगों के आने-जाने का सिलसिला चालू हो गया। युवतियाँ और वृद्धायें पूनियों की डलियां, चरखा और पीढा लेकर कताई करने लगीं। कोई सूत की लच्छियों को साफ और चिकना कर रही थी। कोई अपनी डलिया में दबा दबा कर रुई भर रही थी और कोई अपनी गाढी कमाई के पैसों को बार-बार यत्नपूर्वक गिन रही थी।

कार्य-क्रम शुरु हो गया था। कार्यकर्ता इधर उधर भाग-दौड़ रहे थे। अमुक को कल के हिसाब के पैसे देने हैं, कताई बाकी है। अमुक को पीपल गांव आश्रम में जाकर सेठ रंगीलाल जी के यहां से आई हुई रुई, खाद्य-सामग्री तथा कमीजें छात्रों को बांटनी है, लोगों को देनी है। अमुक को मालेगांव जाने की तैयारी करनी है—वहां माता का जोर है, टीके लगाने होंगे। अमुक को ऊंट लाने का काम सौंपा गया है और······ इसी प्रकार सब व्यस्त हो गये हैं।

उमा अपने निर्जन कमरे में बैठा रजिस्टरों पर माथा टेके हुए है। उसने प्रमुख कार्यकर्ता को सूचित कर दिया है कि उसका जी अच्छा नहीं है, इसलिये वह विचार-विमर्ष तथा अनावश्यक बातों के लिये किसी से भी मिलने के लिये प्रस्तुत नहीं है।

स्वल्पचेतन में वह देख रहा है—कमरों में ऊपर तक भरे सूत के बोरे, रुई के ढेर। चरखे चलाने वालों और सूत कातने वालों की उत्त-रोत्तर बढ़ती संख्या। ······यह सब क्या है ? यह कहां तक चलेगा ? अब तक इस सबको चलाने में उत्साह था, स्फूर्ति थी, लगन थी। प्रेरणा का एक ही स्रोत था—गीता। वह आज सहसा टूट गया था। अब आधार-हीन उत्साह में क्या इतनी सामर्थ्य है, जो इस इतने बड़े कार्य

को उसी सुरुचिपूर्ण ढंग से, उसी लगन और जोश से कार्यान्वित कर सके ?

यही एक बात बस, उसकी समझ में नहीं आ रही थी। गीता की स्मृति मात्र से उसमें एक नवीन बल का संचार होता था। उसी प्रेरणा से वह अनथक परिश्रमी की तरह बहुत सारा काम तो वह स्वयं ही कर लेता था और दूसरों पर बहुत कम भार डालता था। पर अब ? कातने वालों को, कार्य-कर्ताओं को, और गाँव-गाँव के कार्य-क्रम को, गावों के छात्रों को तथा बहुत से अधूरे पड़े कामों को, उन निश्चित प्रोग्रामों को दूर तक फैलती अपनी दृष्टि की उस सीमा में लपेट लेना चाह रहा था और रजिस्टरों में मुंह छिपाये अपनी असमर्थता, दुर्बलता और अकर्मण्यता पर शोक मना रहा था।

क्या वह उसी उत्साह से काम कर सकेगा ? क्या उसमें अब इतनी शक्ति है, लगन है कि बिना किसी शिकन के अपने कर्त्तव्य में, अपने चलाये हुए इस यज्ञ में वैसा का वैसा जुटा रहे ? जिस पथ पर वह अग्रसर हो गया है, उससे कहीं विमुख तो न होगा ? कहीं ऐसा तो नहीं कि जो कुछ उसने अब तक इतने परिश्रम के साथ, निःस्वार्थ भाव से किया है, उसे बट्टा लगे ? कहीं ऐसा तो नहीं कि सैंकड़ों लोगों के उत्साह से बढ़ते हुए कदम थम न जायें और उस पर उसके नाम की घृणा, ग्लानि, बदनामी की वर्षा होना आरम्भ हो जाय ? लोग अब तक के करे-धरे को ढोंग, बकवास और जेबें भरने का ज़रियामात्र समझें ?………

सहसा कमरे का दरवाज़ा खुला और एक कार्यकर्ता चिट्ठी लिये आज्ञा से भीतर आया। उमा संभल कर बैठ गया। चिट्ठी लेकर उसने पढ़ी। धानोरा के एक मिल मालिक की थी। उसमें 'सदन' में बुने कपड़े की शिकायत की गई थी। इन दिनों भेजे थानों को मच्छरदानी की तरह बताया था। किनारों पर कहीं मोटी तो कहीं पतली बुनाई की शिकायत—एक से तार नहीं लिये गये। फलतः मिल की बुनाई को ही

सराहा गया था, और अन्त में लिखा था कि यदि बुनाई पर भविष्य में ध्यान नहीं दिया गया तो सदन से माल खरीदने में असमर्थता रहेगी ।

उमा ने पढ़ा और क्रोध से भुन गया । वह कमरे में चक्कर काटने लगा । बोला—'तुमने पढ़ी इसे ?'

'जी । मालूम होता है कि सेठजी को अब हमारा कपड़ा और अधिक नहीं चाहिये । बुनाई में दोष निकालना तो केवल उनका बहाना है ।'

'दोष सही निकाल रहे हैं । मैं जानता हूं, वास्तव में बुनाई ठीक नहीं हो रही ।' उमा ने दृढ़ स्वर में कहा ।

'कातने वाली तो आप जानते ही हैं—मोटी-मोटी नहीं काततीं, सुन्दर सूत निकालती हैं और यदि वे ऐसा नहीं करतीं तो उनके पैसे काट लिये जाते हैं । अभी कल ही तो रामधन की छोकरी और उमदी को कहाँ पैसे मिले ? रोने लगीं पर डाट दिया गया ।'

'वह तो सब ठीक है, पर जुलाहों का भी आपको कुछ ध्यान है कि वे क्या कर रहे हैं ? इन पर भी किसी की कड़ी नज़र है ? मोटा-पतला तार आख़िर उन्हीं से तो रह जाता होगा ।' उमा ने कहा ।

'उमाकान्तजी, जुलाहे तो सूत देखकर लेते हैं । वह जानते हैं कि ऐसे-वैसे सूत का टाट जैसा कपड़ा बनता है । कहते हैं—अच्छा कपड़ा चाहते हो, अच्छा बंडल दो ।'

'मैं कुछ नहीं सुनना चाहता ।' उमा ने चिढ़ते हुए कहा—'पैसे काटो, सब ठीक कातने लगेंगे । पैसे काटो, जुलाहों को भी अक्ल आ जायेगी ।'

यह बात सुनकर कार्यकर्ता अचंभे में रह गया । उमाकान्त और ऐसी बात कहे ? आज तक तो वह दया की मूर्ति थे । जब भी किसी के पैसे कटते, वह दौड़कर उनके पास आता । रोता, गिड़गिड़ाता । उमा-कान्त बाबू मोम हो जाते । वह उसे पैसे दिलवाकर भगा देते, भविष्य

में सावधान रहने का आदेश करते। ………और आज वही उमाकान्त दया से सहना हाथ खींच रहे थे। यह कैसी कौतुकमयी बात ?

कार्यकर्ता दबे स्वर में बोला—'किन्तु पैसे काटने से तो बुरा प्रभाव पड़ेगा। लोगों में असन्तोष फैलेगा। इस तरह तो कोई काम ही न लेगा।'

'न ले, न सही। इसके लिये संघ क्यों बदनाम हो ? जैसा काम होगा, वैसा ही मावज़ा मिलेगा।' उमा ने दृढ़ स्वर में कहा।

'लेकिन सॉब, हाथ का बुना हुआ आखि़र हाथ का ही होता है। उसमें मानव जीवन के सुख और दुःख—दोनों की कहानियाँ अंकित होती हैं। इन्सान आखि़र मशीन तो नहीं है, जो एक-सी बुनाई बुने।'

'यह सब केवल बातें हैं और बातों से मुझे चिढ़ है। जो कह दिया है, सो करो। सब ठीक कातने लगेंगे। समझे ?'

'जी। अच्छा।'

कार्यकर्ता चला गया। उमा कुछ सोचने लगा, फिर उठकर टहलने लगा। डाकिया 'किसान' का अंक दे गया। उसने उसे खोलकर देखा।

पिछले अंक में छपे उसके लेख पर शहर के माननीय व्यक्तियों की सम्मतियाँ छपी थीं, उनका अपना दृष्टिकोण भी था। प्रायः सभी ने उमा की सूझ को सराहा था। उसी की बातों को सार-संक्षेप में नवीन रूप देते हुए, सरकार पर उन्होंने ज़ोर डालने का प्रयास किया था। इन विचारों के ऊपर ही सम्पादक महोदय का अपना 'नोट' था, जिसमें उमा के विचारों की प्रशंसा करने के साथ-साथ संघ की सफलता व कामना प्रकट की गई थी। उमा के परिश्रम और निःस्वार्थ सेवा-भाव की लगन को सराहा गया था। उमा की प्रतिभा और बुद्धि-प्रखरता का हिन्दी-जगत को एक सुन्दर परिचय दिया गया था। ग्राम-सेवा संघ की स्थापना और उसकी सेवाओं पर उमा को काफ़ी बधाइयां दी गई थीं और भविष्य में संघ की उन्नति की आशायें प्रकट की गई थीं।……

उमा बोर हो गया। उसे इन बस बातों में झूठ का आभास मिला। उसे लगा, जैसे यह सब दिखावा है और दिखावा उसे चाहिये नहीं। उसने खीझ में भरकर अंक को मेज़ पर पटक दिया और एक सिगरेट सुलगाई। फिर उठकर घर चला आया।

वहाँ महरी और सुशी के बहुत आग्रह पर उसने थोड़ा-सा खाना खा लिया। वह कल शाम का भूखा था। उसकी आँखें भारी-भारी थीं। वह लेट गया, और झट से उसकी आंखें लग गईं।

जब तक सोता रहा, उसे चिन्ताओं से मुक्ति मिल गई, लेकिन जब दो-एक घंटे सो कर उठा तो बीती बातें एक-एक कर उसकी पलकों पर जमा होने लगीं। मस्तिष्क फिर घूमने लगा। उठकर उसने एक गिलास पानी पिया और एक हाथ मुंह पर भी फेर लिया।

संध्या हो गई थी। बाहर जाने के लिये वह उठा ही था कि ईला आ गई।

उसे देखते ही वह अस्त-व्यस्त-सा हो गया। अब तो वह उसकी परछांई से भी डरने लगा था। वह उसके दर्शन भी नहीं करना चाहता था। पता नहीं क्यों, जब भी ईला उसके सामने आती है, वह अपने जीवन की सबसे भारी निराशा और वेदना का प्रतिविम्ब ईला के उस कठोर मुख में देखता है और सिहर उठता है। शुरु से ही उसे ईला से कोई ख़ास रुचि नहीं थी और अब तो उससे घृणा-सी करने लगा था। जैसे वही वह जड़ थी, जहां से उसके सर्वनाश की शाखा-प्रशाखा फटी थीं।

वह उसे देखते ही भागने-सा लगा। ईला से वह भाव छिपा नहीं रहा। वह कुछ कहे, इससे पूर्व तो उमाकान्त चल दिया था।

वह मन मसोस कर रह गई!······

और यों ही दिन बीतने लगे।

उमा का कार्य-क्रम ऊट-पटांग रहने लगा। वह न ठीक से खाता और न पहनता। हंसी की नन्ही-सी रेखा भी किसी ने इन दिनों उसके चेहरे पर नहीं देखी। वह सदा किसी गहरे सोच में डूबा हुआ नज़र आता। जैसे चिन्ता ने उसके गिर्द अपनी सीमा-रेखा डाल दी हो। अधिकतर अब उसका समय सेवा-सदन में या फिर गांवों के भ्रमण में ही बीतता। सुशी को महरी के निरीक्षण में छोड़ दिया था। ईला उसके सामीप्य के लिए तरसा करती किन्तु उमा उपलब्ध नहीं होता। ऐसे भी कुछ-एक अवसर आये जब उनका परस्पर साक्षात् हुआ परन्तु उमा ने उसे इतना भी मौका न दिया कि वह उससे घड़ी-दो घड़ी बात तो कर सके। ईला इस उपेक्षा से और भी जल-भुन जाती। उसकी वह बनाव-शृंगार और 'मेक-अप' करके स्वयं को उमा के सम्मुख प्रस्तुत करने की वह सारी योजनायें धरी रह जातीं और उमा को अपनी ओर आकर्षित करने के सभी उपाय निष्फल सिद्ध होकर रह जाते। इससे बड़ी पराजय और क्या हो सकती थी? उसका यौवनरूपी सब्ज़ पौधा स्नेह की उजली धूप न पड़ने से आगे पनप और बढ़ नहीं रहा था।

कई दिन गुज़रते चले गये, किन्तु उमा की कार्य-प्रणाली में कोई भी अन्तर नहीं आया। वह वैसे ही घर से अधिकतर लापता रहता। एक बात और थी। अब तो वह संघ से, संघ के कार्य से भी उदासीन हो गया था। ऐसे रहता मानो उसे संघ से कोई सम्बन्ध और सरोकार ही न हो। वह गांवों में भी कोई विशेष दिलचस्पी से काम नहीं कर रहा था। प्रायः अकेला ही रहता और दूसरों से तटस्थ, कटा-कटा-सा। जो जैसा कहता, वैसा ही मान लेता। अब प्रत्येक कार्य-कर्त्ता का फ़ैसला उसे मान्य था। किसानों ने कब से उसकी वह ओजपूर्ण और हृदय को छूने वाली तकरीर नहीं सुनी थी। सब हैरान थे—आखिर उमाकान्त बाबू को यह हो क्या गया है? कुछ तो उससे पूछते भी, पर वह सूखी हंसी हंस कर टाल देता।

धीरे-धीरे सभी के कार्य में शिथिलता आने लगी थी। नियन्त्रण ढीला पड़ने से कार्य-कर्त्ता लोग भी ढीले पड़ गये थे और उनका उत्साह

कम हो गया था। बहुतों को तो मौज उड़ाने का सुअवसर मिल गया था, पर जो वास्तव में नेक और सच्चे थे, उन्हें मन ही मन दुःख हो रहा था। जिस कार्य को इतने परिश्रम से शुरू करके यहां इस स्थिति तक ले आया गया था, उसी में अचानक यह गतिरोध आ जाने से यह विषय-एक चर्चा का विषय बन गया था। असन्तोष की मात्रा बढ़ने लगी—कार्य-कर्ताओं में भी, किसानों में भी।

उमा यह सब देखता और सुनता भी। उस पर इस टीका की प्रतिक्रिया भी होती। वह संभलकर पुनः कुछ एक दिन उत्साह और नई प्रेरणा लिये कार्य करना आरम्भ करता किन्तु यह उत्साह थोड़े ही दिन टिकता और वह फिर से उत्साह-हीन होकर टूट जाता। जो लोग कुछ समय से चुप हो गये होते थे, पुनः असन्तोष से भर उठते। उन्हें क्या मालूम कि अब वहां वह आधार ही नहीं था, जिससे उमा को बल मिलता था, प्रेरणा मिलती थी और वह अनुभव करता था कि वह वास्तव में जीवित है?

वह दिनों दिन कमज़ोर होता जा रहा था। रुखे-कृश बाल, गढ़े में धंसी निष्प्रभ आंखें, बैठे-बैठे पिचके-से गाल, नुकीली बढ़ी दाढ़ी—मानो किसी अच्छी न होने वाली व्याधि से वह घिर गया हो।

समय का रथ कब किस के लिये रुका है? शताब्दियां बीत गईं पर वह रथ, उस रथ के पहिये, कभी नहीं रुके।····· महीने बीतने आये।

वह आता, खुशी से झट-झट बातें करता, कुछ देर उसके पास बैठता, उसे प्यार से अपने पास खींचकर चूमता, फिर महरी को कुछ आवश्यक हिदायतें देकर वह वहां से भाग छूटता। जैसे वह किसी के श्राप से ग्रस्त होकर यहां से वहां और वहां से यहाँ भटकता फिर रहा था।

ईला बल-पूर्वक चेहरे को खिलाकर उसके पास आने की यथासंभव कोशिश करती। वह आगे बढ़कर उसी में रम जाना चाहती, डूब जाना चाहती। किन्तु कहां? वह ईला को देखते ही घबरा कर भाग

छूटता। और फिर कई दिन गुज़र जाते, वह नहीं आता। वह आँसू बहाकर रह जाती।

पच्चीस

ईला रोती, कुढती और मन ही मन जलती रहती। वह खुद नहीं जानती थी कि वह कौनसी ऐसी व्याधि थी, जो उसमें चोर की भाँति आई थी और उसे धीरे-धीरे चूस रही थी। वह दिन पर दिन दुर्बल होती जा रही थी। जान-पहचान वाले उसे देखते और आश्चर्य लुटाते। उसके साथ की टीचर्स-माया, इकबाल, सुरैया, नयन तारा आदि सभी शोक प्रकट करतीं, स्वास्थ्य का ध्यान रखने को कहतीं, किसी अच्छे डाक्टर से अपना मुकम्मिल इलाज करवाने की सलाह देतीं। उनकी कहीं हुई बातों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह या तो एक उच्छ्‌वास लेकर रह जाती या फिर म्लान, सूखी हंसी हंस कर रह जाती। उसे अब जैसे मृत्यु से भी भय नहीं था। हां, मरने से पूर्व वह 'कुछ' कर लेना चाहती थी। उसे यदि कोई भय था, तो केवल यही कि उस 'कुछ' के कर लेने के पूर्व ही कहीं मर न जाय। यही एक भाव था, जो उसे डराता रहता था और संतप्त रखता था। और जैसे-जैसे उसकी हालत गिरती चली जा रही थी, यह भाव और भी उग्र होता जा रहा था। और वह मन ही मन बहुत कुण्ठित रहने लगी थी।

वह कई बार सेवा-सदन भी गई और उमाकान्त के बारे में पूछ-ताछ की। किन्तु उसे सन्तोषप्रद उत्तर न मिला। वह निराश लौट आई। पता नहीं, उमा कहां था, किस गांव में था।

पहले की ईला आज की इस ईला से सर्वथा भिन्न थी। पहले की ईला एक खिलती हुई कली थी, उसकी प्यास चरम सीमा पर थी। वह चाहती थी कोई लोभी, उन्मत्त भौंरा उस पर मंडराये और उसे चूस-चूस

ले । वह चाहती थी ऐसा कोई हो, जो उसमें लय हो जाय, डूबा रहे और पीता रहे—छक जायं किन्तु मुंह न मोड़े ! ऐसा उन्माद था उसका । ऐसा अवगुंठन ।

उसे सहसा उमा दिखाई दिया । वह खिल गई । सब कुछ भूलकर वह उसी में रम जाने को उद्यत हो गई । किन्तु तभी, उमाकान्त बाबू के पार्श्व में गीता मुस्कराती हुई दिखाई दी । उसे एक झटका-सा लगा । उसके भीतर की नारी को गीता के प्रति डाह-सी हो चली । उमा की प्राप्ति की लालसा उसमें और भी तीव्र हो उठी, क्योंकि उसे पुरुष का अभाव था । वह युवती थी—एक उठती हुई युवती, यौवन और आकर्षण युक्त । उसके हृदय में विशुद्ध, निर्मल और दिव्य प्रेम का भाव था और प्यार किये जाने की महान आकांक्षा । किन्तु प्यार करने वाला न था, उसके अपने प्यार का प्रतिदान न था । उमाकान्त का प्रेम उपलब्ध नहीं था । उसके प्रेम की प्राप्ति सहज न थी । उसे लगा, जैसे प्रेम बिना जीवन नीरस है, शुष्क है, कुछ भी तो नहीं है । प्रेम की इच्छा फिर भी उसके हृदय के बीच विद्यमान थी, सजीव थी । उमा के प्रेम को उसने अपनी कल्पना द्वारा स्वर्ग का दूसरा रूप समझा, उसकी प्यास आतुर हो चली । उसने राह में से गीता को हटा फेंकना चाहा । उसकी स्वाभाविक ईर्षा ने उसके भीतर विप्लव मचा दिया । वह चंचल हो उठी । निराशा के टांके को उधेड़ने के लिये उसने असत्य का सहारा लिया । वह प्रेम के उस निर्मल और स्निग्ध छोर तक पहुँच जाने को लालायित हो उठी । वह प्रेम का निर्मल छोर स्वार्थ और असत्य के आवरण द्वारा ढंक दिया गया । गीता का संसार डोल उठा । उमा-कान्त का जीवन नैराश्य और अंधकार पूर्ण बन गया । ईला के मन की नारी इन दो हृदयों के विच्छेद पर इठलाई ! उसे सन्तोष की एक घूंट मिली ।

और वही ईला आज एक ऐसे स्थल पर पहुँची थी, जहाँ उसने देख लिया कि वह छल से, कपट से, असत्य के आश्रय से भी उमा को नहीं पा सकी, उसे अपना नहीं बना सकी, उसके

निर्मल प्रेम के तट तक नहीं पहुँच सकी। उसने वहां तक पहुँचने के लिये अपनी असत्य की नौका को उन्मत्त और प्रचण्ड लहरों में छोड़ भी दिया किन्तु आगे चलकर उसने देखा कि नौका डूब जाना चाहती है और बचना दुर्लभ हो गया हैं तो आज वह उस नौका को डुबो देना चाहती है और स्वयं उन लहरों में संघर्ष करते हुए, सत्य और आलोक के पथ द्वारा प्रेम के उस भव्य तट तक पहुँच जाना चाहती है ।……आज ऐसी ही कुछ ईला की मन : स्थिति है। आज की ईला को जैसे पूर्ण विश्वास हो चला है कि असत्य और स्वार्थ की उसकी वह नौका उसके प्रेम के तट तक नहीं पहुँच सकती। और जब वह नहीं पहुँच सकती तो वह पुन: सत्य और आलोक का पथ ग्रहण करना चाहती है। वह चाहती है अब सीधे-सही और नि:स्वार्थ भाव से वह उमा के प्रेम को प्राप्त करे। और उसे विश्वास है कि उसे उमा का प्रेम मिलकर रहेगा। यह हृदय-परिवर्तन है। एक नई आत्मानुभूति का यह नवीन अनुभव है। यह वह है, जो अन्तर-दर्शन है। गांधी जी के शब्दों में इसे 'प्रायश्चित' भी कह सकते हैं।

स्वार्थ और असत्य की पराजय हो गई है। एक नई अनुभूति का स्फुरण हुआ है। स्वार्थ का आवरण सहसा फट गया है और अश्रुओं से धुला ईला का मुख निखर उठा है—एक निर्मल, भव्य ज्योति से दीप्त हो उठा है। एक सरल सौन्दर्य और सन्तोष की आभा, कठोरता और मलीनता के स्थान पर प्रस्फुटित हो उठी है।

और उस दिन जब माइकल चाय लाया तो ईला ने स्वल्प-चेतन में ऐसे सोचा मानो वह विष लाया है। जैसे उसका समस्त जीवन अंधकार के गहरे गर्त में गिरकर विलीन होता जा रहा है और कोई शक्ति—जो शून्य है अथवा अन्धकार है, या फिर आवर्त्त पर मृत्यु का घूर्णन—उसे निमंत्रित कर रही है। विष की घूंट और उस निमंत्रण के बीच एक हल्की—सी स्निग्ध उलझन है। पर यह क्या ? यह तो दोनों एक ही हैं। दोनों का एक ही में समावेश, एक ही अन्त, एक ही स्वरूप — चिरनिद्रा, मुक्ति !

नहीं-नहीं, यह चाय का प्याला है और यह माइकल है—एक ऑर्फ़न। और वह विष ? हां, वह भी उसके विकृत मस्तिष्क की कल्पना है। यह चाय है। और वह ईला है।......

वह पलंग पर से कराहती-सी उठी। जोड़ दुख रहे थे और आंखें जल रही थीं। उसने अनुभव किया कि वह बुखार से तप रही थी। उसने देखा कि उसकी कराह से माइकल सिहर उठा। एक भीषण त्रास और वेदना उस दस-वर्षीय अबोध माइकल के मुख पर खेल गई।

ईला ने शुष्क किन्तु आत्मीय मुस्कान के साथ उससे पूछा—'तू ऐसा क्यों कर रहा है रे ? तूने चाय पी ?' यह कह, ईला ने कांपते हाथों से प्याले को ट्रे पर से उठा लिया।

माइकल ने उसके कृश मुख को देखा, बाँस-से सूखे हाथों को देखा और फिर चीनी के प्याले पर सटे हुए उन पपड़ी जमे, रक्त-विहीन होठों को। वह मौन-मूक खड़ा विचलित हो उठा। उसने चुपचाप स्वीकृति-सूचक सिर हिला दिया।

उसे तत्काल अनुभव हुआ कि उसका अपना भविष्य अंधकारपूर्ण होने जा रहा है और वह ईला के वात्सल्य से वंचित रह जाने की आशंका से छटपटा रहा है। वह ईला के बिल्कुल पास एक स्टूल पर बैठ गया। सहसा उसका हाथ उठकर ईला की पेशानी पर आ लगा। ठंडा-ठंडा, पतला हाथ। उसमें की नन्ही-नन्ही पाँच कोमल उंगलियाँ एक झटके के साथ विलग हो गईं।

वह भौंचक्का-सा बोला—'तुम्हें तो बहुत तेज़ बुखार है आन्टी। तुम कहो तो अभी उन जानवरों के डाक्टर को बुला लाऊँ ?'

कुछ तो माइकल के इस स्नेह ने ईला को विमुग्ध कर दिया और कुछ उस डाक्टर वाली बात ने। तत्काल ही दो रेखायें उसके उस विक्षुब्ध मुख पर चमक कर विलीन हो गईं। एक तो वात्सल्य से पूर्ण आलोकमयी और दूसरी वेदना में लिपटी-मलीन। सहसा प्रकृतिस्थ हंसी में उसने विनोद किया—'क्यों रे, तूने क्या मुझे जानवर समझा है ? मुझसे मज़ाक करता है ?'

सरल ग्राश्चर्य में भरकर माइकल ने ग्रपनी इस आन्टी को देखा और तर्कपूर्ण मुखाकृति बनाकर कुछ कहने ही वाला था कि ईला प्याले को ट्रे पर रखती हुई वोली—'सुन माइकल, तू घबरा मत। यह बुखार-बुखार तो सब यों ही उतर-उतरा जायगा। मैं इसी को उतारने आज ही बाहर जा रही हूँ।......' फिर कुछ हंसकर कहा—'मैं मरूंगी तो नहीं न माइकल ? तेरा क्या ख़याल है ?......उफ़, आठ बज गये। मुझे तैयारी करनी है। अच्छा देख, वो मेरी सबसे कीमती साड़ी है न—उस सूटकेस में—वो जार्जेट की—वो तो ज़रा निकाल। मैं तैयार होती हूँ। तू बड़ा ग्रच्छा माइकल है, देखें कैसा झट-झट काम करता है—देख भाई जल्दी कर। तू वो साड़ी निकाल और फिर मेरे लिये 'थर्मास' में चाय भर दे। तू जानता ही है कि मैं केवल चाय पर ही ज़िन्दा रहती हूँ।......' ईला पागल-सी विद्युत की भांति बोले चली जा रही थी—'यह तौलिया रहा। यह साबुन रहा। ठीक, 'बाथ-रूम' में पानी है ही। बस, काम हो गया। यह माइकल मेरा बड़ा अच्छा है, शिकायत का मौका तक नहीं देता मुझे।' .....

माइकल के कुछ समझ में नहीं आ रहा था। आन्टी क्या कह रही थीं और क्या कर रही थीं—सब उसके लिये एक़ पहेली-सी थी। ईला की इस विचित्र और पागल-सी अवस्था ने उसे अत्युक्त हद तक डरा-सा दिया था, शून्य बना दिया था। उसकी उंगलियां यंत्र-चालित-सी काम कर रही थीं। सूटकेस में साड़ियां उलटी और पलटी जा रही थीं। वह सुन्न-सी अवस्था में सूटकेस में ऊपर तक भरी साड़ियों, ब्लाउज़, तौलिये, साबुन, टूथ-पेस्ट इत्यादि को निर्निमेष बैठा देखता रहा। उसकी कच्ची बुद्धि अनिर्वचनीय वेदना और शून्यता से भर उठी थी।

'अरे क्या कर रहा है माइकल ? साड़ी निकाली या नहीं ?' ईला की रोगिणी की-सी किन्तु तीक्ष्ण आवाज़ आई—'अभी तुझे चाय बनानी है। जल्दी कर भाई। इतनी देर कर दी।......'

माइकल भाग कर किचिन में चाय बनाने लग गया।

नौ बजते-बजते ईला तैयार हो गई। थर्मास उठाया, पर्स लिया और चलने को पैर उठाया ही था कि जैसे उसे कोई बात सहसा याद आई।

माइकल खड़ा था—उदास, चुप और नीरव। ईला को टकर-टकर देखता-सा। उसके नेत्रों में वेदना और शून्यता छलक रही थी।

उसे अपने पास प्यार से खींचते हुए और उसके बालों पर हाथ फेरते हुए ईला बोली—'मेरे जाने में तुझे दुःख हो रहा है?'

माइकल ने हामी भरी।

ईला का नारीत्व सहसा मातृत्व में परिणत हो गया। माइकल को उसने अपनी गोद में खींचते हुए उसके गालों पर अपना स्नेह अंकित कर दिया। इस पर माइकल की आंखें बरस पड़ीं।

पुनः पलंग पर बैठती हुई, ईला बिगलित कण्ठ-स्वर में बोली—'तू रो मत। तू यहीं रहना और घर की अच्छी तरह चौकसी करना। मेरा पता नहीं, कब आ जाऊं। आज से तू ही इस घर का मालिक है।'.........फिर कुछ खांसती हुई बोली—'जितने पैसों की ज़रुरत पड़े, उस काले बक्स में नीचे ही नीचे रखे हैं, ले लेना। देख, उजाड़ना मत। सफ़ाई का ध्यान रखना। उस बक्स की चाबी वहां—मरियम की तस्वीर के पीछे रखी है और घर की चाबियां शैल्फ पर रखी हुई हैं। और सुन, खूब पढना और बुरों से बचना।.....अरे, तू रो रहा है? रो मत माइकल। खुदा बाप किसी को मारे नहीं। मैं भी देख, मरना नहीं चाहती। जैसे ही अच्छी हुई, दौड़ी-दौड़ी आ जाऊंगी। अच्छा, अब चलूं? देख, तांगे वाला आवाज़ दे रहा है।'......ईला की आंखें नम हो आईं। माइकल उसके लिये सब कुछ था। सेवक, सहचर, भाई, शिशु। उसके बिना वह जैसे अकेली थी, निरीह थी, लाचार थी।

माइकल की आंखों से अश्रुओं का प्रवाह जारी था।

वियोग की कसक से ईला का हृदय भर आया। चलते-चलते

अन्तिम बात वह बोली—'तू मेरा इन्तज़ार करना। यदि मैं न आऊं, तो समझना.........' यह कह, वह भीषण हंसी हंस पड़ी। अन्तिम बार उसने माइकल के सिर पर हाथ फेरा और बलपूर्वक कमरे से बाहर निकल आई।

माइकल कांप उठा। उसने ईला की ओर देखा। वह झट-झट आंसू पोंछ रही थी। आंसू से भीगे पद-चिह्नों पर हंसी की दौड़ धीमी थी। उसने सूटकेस उठाया और तांगे में रख दिया।

और तांगा चल दिया :

माइकल अश्रुप्लावित नेत्रों से पिछली सीट पर बैठी ईला के फड़-फड़ाते सफेद रुमाल को निर्निमेष देखता रहा।

अन्टी कहां जा रही है ? क्या वह लौटकर नहीं आवेगी ?—प्रश्नों का आकार फैलता जा रहा था बस, और कुछ नहीं।

छब्बीस

तांगा पहले सेवा-सदन पहुँचा। वहां तहकीकात करने पर ईला को निश्चित उत्तर मिला—'उमाकान्त बाबू माले गांव ही हैं। आश्रम में अवश्य मिल जाएंगे। माले गांव तीस-एक मील दूर होगा। मोटर जाती है।'

इसके बाद तांगा बस-स्टेण्ड की ओर मुड़ गया।

दिन ढलते-ढलते वह माले गांव पहुँच गई। उसका अधीर मन अब सुख की लहरों पर तैर रहा था। उसने अपने में एक नई स्फूर्ति, नव-जीवन और उत्साह अनुभव किया। उसके चेहरे पर विचित्र आभा फैल गई थी। उसका मुर्दा चेहरा अब चमक रहा था। जैसे उसने नया जीवन पाया हो।

जब वह आश्रम पहुँची, तो उसने देखा— चारों ओर फूस-निर्मित झोंपड़ियां और कच्चे लीपे हुए घर फोड़ों की तरह उभरे हुए थे और आश्रम की नई, पक्की इमारत सूजन की तरह चमक रही थी। रास्ते में कुछ अर्द्ध-नग्न बालक मिट्टी में खेल रहे हैं। पैरों में मनों मैल जमा हुआ था। किसी की नाक बह रही थी और किसी की आंख चिपचिपा रही थी। सरलता की इन प्रतिमाओं को देख, उसका मन द्रवित हो उठा।

आश्रम से बाहर ही उसका साक्षात एक कार्यकर्ता और एक उसी की उम्र की एक खद्दर-धारी युवती से हुआ। दोनों उसे प्रश्न-सूचक दृष्टि से देख रहे थे।

ईला ने हंसकर पूछा—'उमाकान्त बाबू हैं ?' और धड़कते हृदय से उत्तर की प्रतीक्षा करने लगी।

'नहीं। वह तो घंटा भर हुआ, धानोरा गांव चले गये। कल लौटेंगे।' फिर क्षणेक रुककर पूछा—'आप उन्हीं से मिलने आई हैं ?'

'हां—' टूटे हुए स्वर में ईला बोली, और फिर निर्वाक्-निश्चल उस महिला का मुंह तकती रह गई। उसे लगा, जैसे जीवन का अन्तिम पड़ाव आ गया है।

महिला ने कुछ चिन्तित भाव से ईला को देखा। कार्य-कर्ता ने भी उसके मुख पर असीम वेदना की छाया डोलते देखी। कैसा सत्य, दुर्दम्य और प्रखर दुःख था उसका।

ईला ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति एकत्र करके कहा—'बहन, यदि आप उन्हें किसी तरह बुला दें, तो जीवन भर आपका यह उपकार नहीं भूलूंगी। उनसे मिलने की अभिलाषा लेकर चली थी और इसीलिये शायद अब तक जिन्दा थी और शायद अब भी मिलने की आशा पर ही जीवित हूं। नहीं मिल पाई तो·····मर जाऊंगी।'

महिला करुणा से भर उठी। सहमी-सी ईला के निकट आकर उसने ईला को छुआ और कांप उठी। झट से कार्यकर्ता से बोली—

'इन्हें बहुत तेज़ बुखार है। आप वह दफ़्तर के पास वाला कमरा खोलिये, मैं इन्हें लाती हूँ—।' फिर ईला को सहारा देते हुए कहा—'चलो बहन, भीतर चलो। आप घबराओ मत, मैं उमाकान्त बाबू को बुलवाने का अभी इन्तज़ाम करती हूँ।'

कमरे में लाकर उसने ईला को एक चारपाई पर लिटा दिया।

ईला को इन शब्दों में जैसे अभयदान मिला हो। उसने कृतज्ञतापूर्ण नेत्रों से इस महिला को देखा और एक नि:श्वास लेकर, आंखें बन्द कर लीं।

वह इन्तज़ाम करने चल दी।

और ईला जैसे इन्तज़ाम करने लगी—नहीं मरने का। आंखें बन्द किये हुए वह दिल से दुआ मांगने लगी—'ख़ुदा बाप, मुझ पर रहम कर। एक बार मुझे उनसे मिल लेने दे, फिर चाहे उठा लेना। ख़ुदा बाप।··· ·····' एकाग्र, एकस्थ। वही होठों का हल्का सा कम्पन—'खुदा बाप······'।

आश्रम से मंगतू को धानोरा भेजा गया, उमाकान्त बाबू को सूचना देने। उसने उमाकान्त बाबू से कहा—'मुझे शेखरजी ने आप को बुलाने भेजा है, कोई ज़रुरी काम है, जल्दी बुलवाया है।'

'क्यों, क्या काम है ? कुछ कहा नहीं ?'

'कोई आपसे मिलने माले गांव आया हुआ है। आपसे बहुत ज़रुरी काम से मिलना चाहता है। आपको जल्दी बुलवाया है।' मंगतू ने कहा।

हत-बुद्धि हो उमा ने कहा—'कोई आया है, मुझसे मिलना चाहता है ? आखिर कौन है ? स्त्री है अथवा पुरुष ?'

'कोई स्त्री है साब—ईला नाम बताया है।' मंगतू बोला—'विमलाबाई ने कहलवाया है, ईला की हालत बहुत खराब है—भगवान ही मालिक हैं। जल्दी चलिये साब।'

'ईला !' उमा की नाड़ियों में रक्त उबाल खाने लगा। ओह, इसने मुझे यहां भी नहीं छोड़ा ? मैं अपने ही हाल पर मरना चाहता

हूं और पता नहीं यह क्या चाहती है मुझसे ? क्यों मेरे पीछे हाथ धोकर पड़ी है ?

स्पष्ट में बोला—'मैं नहीं जाऊंगा। वह मरे चाहे जिये—मेरी बला से। मैं नहीं चलूंगा। तुम जाओ !' स्वर कड़क उठा था।

मंगतू स्तम्भित रह गया। उसने देखा—उमाकान्त बाबू पुन: सामने फैले कागज़ों में खो जाने का यत्न कर रहे हैं। थोड़ी देर चुप रहने के बाद, वह डरे हुए भाव में बोला—'चलिये साब, वरना शायद अनर्थ हो जाए !'

'कुछ भी हो जाये, मैं नहीं चलूंगा—मैंने कह दिया। तुम जाओ।' उमा ने आग-बबूला होते हुए कहा और उठकर कमरे में चक्कर काटने लगा।

मंगतू सहम कर चुप हो गया।

कुछ देर खामोशी छाई रही।

उमा तेज़ी से चक्कर काटता रहा। कोई चीज़ उसके भीतर उठती-गिरती रही। दूर-दूर तक शून्य में आंखें गड़ाये वह कुछ खोजता रहा। धीरे-धीरे उसके तेज़ी से घूमते पांव सहसा शिथिल पड़ गये।

वह जैसे ढह पड़ा—'तुमने क्या कहा मंगतू ? ईला की हालत बहुत खराब है ? वह मुझसे मिलने आई है ? मुझे बुलाया है उसने ? .....'

'हां साब—।' मंगतू एकाएक आशा से खिल उठा।

उमा कुछ देर एक विचित्र मानसिक अवस्था में मूक खड़ा रहा। कुछ देर वह अपने से लड़ता रहा और फिर मंगतू पर दृष्टि संयत करते हुए बोला—'चलो, चलें मंगतू......।'

सुना है. दिल से की गई दुआ कुबूल होती है।......दुआ किसी की वेकार नहीं जाती। नीचे जीवन का ठोस सत्य खींचता है और

तन्मयता की सीढ़ी उसे ऊपर चढ़ाती है। वह कुछ ऊपर उठा हुआ होता है—अणु-सा हल्का।.........

उमा जब माले गांव पहुँचा तो अर्द्ध-रात्रि का समय था। गांव सुप्तावस्था में पड़ा था। पगध्वनि से कुत्ते भोंकने लगे और गांव के चौकीदार ने सचेत होते हुए अपना लट्ठ बजाया। फिर बांग लगाई। उमा को देखने पर 'राम-राम' हुई और उमा आश्रम में प्रविष्ट हुआ। हृदय में सुइयां-सी-चुभ रही थीं और हृदय धड़क रहा था। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि वह यहां कैसे आ गया। कई बार राह में से वापस लौट जाने का विचार प्रबल हुआ किन्तु फिर भी कोई अज्ञात शक्ति उसे बराबर खींचती रही। वह-चाहकर भी जैसे कुछ नहीं चाह सका। वह नहीं जान पा रहा था कि वह शक्ति क्या थी, जो उसे खींचती रही। वह कौन सा भाव था जो उस पर इतना अधिकार जमाये हुए था, कि वह कोई निर्णय नहीं कर सका? वह ऐसा कौनसा आकर्षण था, जिसके वशीभूत होकर वह माले गांव आ पहुँचा? क्या था वह—औचित्य की भावना, कर्तव्य, आतिथ्य और सत्कार भाव अथवा ईला की शोचनीय अवस्था का ज्ञान, अथवा कुछ और?

जैसे ही वह शेखर के कमरे की ओर बढा, उसका दिल फिर ज़ोर से धड़का। गहरा सन्नाटा चारों ओर बिखरा हुआ था। चांद बादलों की ओट में छिपा हुआ था। क्षण भर दरवाज़े पर रुक कर उसने दस्तक दी। आश्रम में लगे पीपल के पेड़ पर पत्ते हवा से बज उठे।

उमा ने इस बार कुछ ऊंचे स्वर में पुकारा—'शेखर जी...।'

भीतर से आवाज़ आई—'कौन?'

और उसके साथ ही द्वार खुला और शेखरजी बाहर आये।

उमा ने शीघ्रता से पूछा—'ईला कहां है?'

'वो—उस कमरे में।'

'अब कैसी हालत है ? कुछ दवा वगैरा दी ?'

'हालत चिन्ताजनक ही है । दवा तो अब तक दो बार दे चुका हूं ।'

'ओ—' उमा को झटका-सा लगा । कुछ देर वह गुमसुम-सा खड़ा रहा, फिर ईला के कमरे की तरफ़ चल दिया ।

शेखर ने उमा के चहरे पर अंकित व्यथा को देखा, तो मन ही मन सोचने लगा—इनका ईला से क्या सम्बन्ध है ? यह ईला कौन है ?

कमरे का दरवाज़ा भीतर से बन्द नहीं था । उमा ने भीतर प्रवेश किया और देखा—ताक में एक दिया टिमटिमा रहा था...... ....

उमा ने पुकारा—'ईला ।'

रोता-सा स्वर आया—'जी ।'

उमा ने उसके सिरहाने खड़े होकर देखा—ईला के मुर्झाये चेहरे पर सुख की एक लकीर खिंच आई थी और वह खिल उठा था ।

वह मन ही मन बुद-बुदाया—क्या यह वास्तव में ईला ही है या उसका साया ? और यह अभी-अभी सुना स्वर भी क्या उसी का था अथवा उसके स्वर की कोई प्रतिध्वनि ?......

ईला की गढ़ों में फंसी निस्तेज, निष्प्राण आँखें उमा के चेहरे पर आबद्ध थीं । उमा चुप, शून्य भाव से ईला को निर्निमेष देखता रहा । फिर उसने झुककर ईला की आँखों में देखा । कुछ तैर रहा था । वह आत्मा का रुदन था या तृप्ति का उन्माद ? सहसा ईला ने मुँह फेर लिया । होठ कांप रहे थे और आँसू एकत्र हो रहे थे और मुँह कड़वा हो गया था । इसलिये उसने मुँह फेर लिया था । उमा ने उसके हाथ को स्पर्श किया । भट्टी की तरह गर्म, बहुत ही तीव्र स्पन्दन और रह-रह कर फूलता सीना । ज़ोर-ज़ोर की सांस आ रही थी । न जाने उमा कैसा हो गया ।

'मेरी तरफ देखो ईला ।'

'..................'

'देखो ईला । मेरी तरफ देखो ।'

ईला ने डबडवाई आँखें उमा की ओर फेरीं। उसकी उस दृष्टि में सब कुछ अङ्कित था......असीम वेदना, अभिमान, उलाहना, शिकायतें, फरियादें, शिकस्त। दिल की समस्त गाथा जैसे वहाँ अंकित हो। वह सब कुछ वहाँ अंकित था जो हृदय को आर्द्र कर दे।

चाहे उमा के हृदय में उसके प्रति कितनी भी घृणा रही हो, तिरस्कार और उपेक्षापूर्ण भाव रहा हो, वह चाहे उसकी स्नेह-पात्र न बन सकी हो पर आज उसके ये चिर निवासी भाव आज इस समय हृदय के पिघलने के साथ-साथ द्रवित हो उठे। ईला की दृष्टि में करुणा और पराजय की ऐसी साकार प्रतिमा विद्यमान थी, जिसके आगे उसका वह कठोर हृदय भी हिल उठा। उसकी उस शून्य दृष्टि में कुछ ऐसी शक्ति थी, जिसके सम्मुख उमा स्वयं को दुर्बल और अस्थिर अनुभव कर रहा था।

वह खोया हुआ-सा बोला—'यह तुम्हें क्या हो गया ईला?'

वह फीकी हँसी हँस पड़ी।

'ऐसी हालत में तुम्हें यहाँ आने की यह क्या सूझी?'

इस बात पर ईला गंभीर होकर बोली—'यहाँ आने का कारण है उमाकान्त बाबू। कारण न होता तो क्यों आती?' फिर कुछ हँसने की चेष्टा करते हुए बोली—'क्यों, मेरे आने से दुःख हुआ ना?'

'कुछ कारण-वारण नहीं है—इस हालत में इतनी दूर सफ़र किया, यह क्या बुद्धिमत्ता है? ज़रा सोचो तो।'

ईला हँसी—'कैसी बातें करते हैं आप? मैं कहती हूँ, कारण था। वही तो मुझे यहाँ लेकर आया है। नहीं तो मरते-मरते भी क्या आपको दुःख देने में मुझे आनन्द मिल रहा था? वह कारण क्या है—सो मरने से पूर्व, यदि मैं बतादूँ तब तो आप मुझ पर विश्वास करेंगे ना?'...फिर संक्षिप्त-सा रुक कर बोली—'आप आ गये। अच्छा किया। अब मर सकूँगी, वरना......सच मानिये, प्राण आसानी से नहीं निकलते, दुःख पाती मैं। अब सुख से तो मर सकूँगी।......'

उमा सिर झुकाये बैठा था। वह सोते से जगा हो, इस प्रकार चौंक कर बोला—'पर ऐसा क्या कारण था, जिसके सामने तुमने अपने जीवन तक को ख़तरे में डालकर यहाँ तक की यात्रा की ?'

ईला म्लान हँसी-हँसते हुए बोली—'विश्वास करिये, मैं आपसे छिपाऊँगी कुछ नहीं। छिपाती, तो मरने के उपरान्त भी मेरी आत्मा संतप्त रहती। उसी यातना के डर से मैं यहां चली आई। यदि छिपाना ही चाहती, तो सोचिये, मैं यहाँ आती ही क्यों ? पर मैंने बताया ना, मैं बोझ और दुःख लिये बुरी मौत नहीं मरना चाहती थी। सुख की मौत मरने का लालच मैं नहीं संवार सकी—यह सुनकर शायद आप मुझ से घृणा भी करें, पर मेरे उस प्रकार चुपचाप मरने पर तो कदाचित आप मुझसे और भी घृणा करते और मेरी आत्मा भी मुझे सदैव कोसती, धिक्कारती……।' फिर कुछ गंभीर भाव से हँसती हुई बोली—'मैं जानती हूँ, अब अधिक देर मैं जीवित नहीं रहूँगी। मरने से पूर्व मैं आपको सब कुछ बता जाऊँगी। पर सच कहती हूँ, मरने को मेरा जी नहीं चाह रहा।……'

वह कुछ रुकी, फिर बोली—'यकीन मानिये, आज मैं नहीं मरूँगी। आज तो मैं मरना भी नहीं चाहूँगी, और कल मैं चाहकर भी शायद न जी सकूँ। हमारा चाहना चलता भी तो नहीं उमाकांत बाबू।…… आह, गला सूख रहा है ····पानी।'

उमा अब तक पागल की-सी अवस्था में बैठा था। उसने तत्काल ताक में रखे लोटे में से पानी भरकर ईला को पिलाया। पानी पीकर ईला पुनः लेट गई।

दोनों मूक, स्तब्ध, एक दूसरे को देखते रहे। उमा के सामने काली छाया-सी घूमने लगी। ईला का स्पन्दन—वह वेदना से परिपूर्ण ध्वनि-फूलकर उस कमरे में भरने लगी और उमा उन रिक्त, नीरव घड़ियों में भटकने लगा। ईला कुछ महीनों पूर्व ही एक फूल की मानिन्द थी और वही फूल आज सहसा मुर्झा रहा था। भूकम्प से जैसे मकान की क्षति

हो जाती है, उसी प्रकार उसके भी सारे अवयव बिखर पड़े थे। क्या वह अवयव अब पुनः नहीं जुड़ सकते ? चेष्टा करने पर भी क्या वह नहीं बचाई जा सकती ?

क्षुब्ध भाव से उसने कहा—'ईला, जब मैंने तुम्हें प्रथम बार देखा था तो तुम एक फूल थीं—डाल पर झूमते फूल की तरह और आज ···' आगे जैसे उसका कण्ठ अवरुद्ध हो गया।

ईला म्लान हँसी में बोली—'हाँ। पर फूल होना पाप है, उमाकांत बाबू। मेरे फूल होने के बारे में जो आपका ज्ञान है—केवल दृष्टि से सम्बन्धित है, जो बाह्य वस्तु है। वह ज्ञान जीवन से सम्बन्ध नहीं रखता, क्योंकि फूल की सार्थकता किस में है, इस पर वह सोच-विचार नहीं करता।'

उमा बात सुनकर सिहर उठा। अप्रतिभ भाव से ईला को देखने लगा।

ईला बात को खींचते हुए बोली—'ऐसा ज्ञान बहुत ही व्यस्त और परिमार्जित होता है। ऐसे ज्ञान को फूल की गहराइयों में डूबने जितना अवकाश कहाँ ?··· ··मेरा विचार है कि फूल होना बड़ा अपराध है। यदि वह फूल है, तो उसे एक निश्चल मिट्टी के देवता पर ही चढ़ना चाहिये। यही उसके सुन्दर अस्तित्व का परिचय हो सकता है और यही उसके जीवन की सर्व सुन्दर आकांक्षा हो सकती है। यही वरदान उसे मिलना चाहिये। उफ़, दम घुट रहा है······गर्मी।······पानी।'

उमा ने उठकर फिर पानी पिलाया। गिलास को रखकर क्षण भर वह न जाने क्या-क्या सोचता रहा, फिर सहसा उसकी नज़र ताक में रखी औषधि पर चली गई। झट से बोला—'लो ईला, उठो, दवा पी लो।'

ईला विकृत हंसी-हंसते हुए बोली—'आप भगवान को नाहक नाराज़ कर रहे हैं। यह ठीक नहीं है।'

किन्तु उमा ने आग्रह सहित दवा पिला ही दी।

कुछ देर बाद उमा की तरफ करवट लेते हुए और सिर को तकिये से नीचे झुकाते हुए वह बोली—'देखो न, पैरों में कैसी धूल जमी है। बाल कैसे उलझे, सूखे पड़े हैं और……। नहीं नहीं, यह सब कैसे चलेगा उमाकान्त बाबू ? आप ही जब अपने को नहीं देखते तो फिर और किसे चिन्ता पड़ी है ? सुनो, मेरे करीब आओ। सुनो मेरी बात।……'

स्वर में कुछ ऐसा आकर्षण था कि वह खोया-सा स्टूल पर से उठकर ईला के पलंग के पास जाकर खड़ा हो गया—विमूढ़, निर्वाक, निश्चल और स्थिर भाव से ईला को देखने लगा।

ईला कुछ और झुकी और झुककर अपने हाथों में आंचल में लपेट कर उमा के पैरों की धूल पोंछने लगी। उमा पाषाण की भांति खड़ा था। तभी उसने महसूस किया जैसे इस क्रिया के दरमियान उसके और ईला के बीच, चरणों की दूरी तक में कुछ घट गया था, जो असाधारण था। ईला धूल माथे से लगा रही थी। उसने चिहुँककर पैर पीछे हटा लिये और दूसरे ही क्षण उसे उठाकर यथास्थान सुलाते हुए वह रुद्ध स्वर में बोला—'यह क्या पागलपन है ईला ? अब कुछ सो लो। देखो, काफी रात बीत चुकी है।'

'सोना तो चाहती हूँ—'वह खांसते हुए बोली—'पर एक विचार है, जो सोने नहीं देता। वह यह, कि यदि सो गई, तो फिर नहीं जागूंगी…'

'पागलपन की भी कोई हद होती है, ईला—। जबसे आई हो, मरने-मरने की रट लगा रखी है। मैं कहता हूँ, तुम्हें कुछ नहीं होगा। मैं तुम्हें नहीं मरने दूंगा। लो, अब थोड़ा आराम करलो।……'

ईला ने विचित्र मुद्रा में उमा की ओर देखा। वह बात एक शिशु के मुंह से निकलने वाली बात की तरह थी। सरल और सारहीन—फिर भी कितनी प्रिय। जो अपनी निष्कपटता से, निश्च्छलता से आकर्षित करती है, मुग्ध करती है किन्तु सत्य और अनुभव की कसौटी पर कितनी हल्की, महत्वहीन और कृत्रिम उतरती है। उमा की कही हुई इस बात

ने इसीलिये इसका हृदय तो विमुग्ध कर दिया, पर वह जानती थी कि यही बात, उसे जीवनदान देने में कैसी असमर्थ थी। इसीलिये ईला आँसुओं के भीतर से केवल हँस कर रह गई।

बाहर काटता हुआ सन्नाटा बिखरा हुआ था और भूला भटका वायु का प्रवल झोंका कमरे में प्रवेश कर जाता था। उसने उठकर कमरे का एक पट भेड़ दिया और वहाँ एक पत्थर लगा दिया। फिर पास की खिड़की से वह खड़ा-खड़ा शून्य भाव से, दूर-दूर कुछ देखने लगा। चाँद बादलों द्वारा ग्रसित हो रहा था। जैसे प्रकृति में भी जीवन का कटु सत्य अंकित हो। चन्द्रमा घुलता हुआ जीवन की अन्तिम घड़ियों से लड़ता चला जा रहा था। यही जीवन, जो उसके लिये पूर्णमासी के दिन वरदान स्वरूप होता है, चूसा जा रहा था।......

'अरे, आप वहाँ खड़े क्या कर रहे हैं ? मुझे तो सोने को कह दिया और अब स्वयं पहरा दे रहे हैं—!' ईला ने कहा।

उमा एक दीर्घ निःश्वास छोड़ता हुआ पुनः स्टूल पर आकर बैठ गया। बोला—'अब मेरा कहना मानो और चुपचाप सो जाओ !'

'और आप ?'

'मुझे नींद नहीं आ रही है। मेरी चिन्ता छोड़ो।'

मज़ाक करते हुए ईला बोली—सोचते होंगे न जाने मैं कब मर जाऊं ! मैं कहती हूँ, आज नहीं मरूँगी। यह पहरा फ़िज़ूल है। जिस दिन सचमुच पहरा देना होगा—उस दिन सोते रहोगे। कहती हूँ, आपका आज का सोना उस दिन काम आयगा।......'

ईला के मुंह पर उमा ने सहसा हाथ रख दिया, बोला—'अब जो एक बार भी बोली, तो क़सम है तुम्हें। चुपचाप सो जाओ।'

ईला उसका कहना मानते हुए सोने का यत्न करने लगी। उमा दीये की उस क्षीण, दुर्बल लौ को ध्यान से देखने लगा। वह भी जैसे किसी बाह्य शक्ति से लड़-लड़ कर थकती चली जा रही थी। सभी का

एक ही संस्कार चारों ओर प्रतिविम्बित था। बाहर, पीपल के पत्तों का हवा से टकराने पर शोर हो रहा था और चन्द्रमा अब पूर्णतया निगल लिया गया था।··· कितनी ही विगत स्मृतियाँ उसकी पलकों पर एकत्र हो रही थीं— कुछ सुखमयी, कुछ दु:खद। उसके मस्तिष्क का शून्य स्थान इन स्मृतियों से भर रहा था। दीये के धुन्धले प्रकाश में कभी उसका चेहरा हर्ष से चमक उठता था और कभी वह चमक विलीन हो जाती थी। दु:ख और पश्चाताप से उसका हृदय भर रहा था। ईला के प्रति होता आया अन्याय, तिरस्कार और उपेक्षा से उसके दिल में धुंआँ इकट्ठा हो रहा था। और वह विचित्र-सा अंधड़ लिये चित्रलिखित-सा बैठा था। वह पता नहीं इस अवस्था में कब तक बैठा रहा।······

सुबह जब शेखर ने उसे जगाया तो उसने देखा कि वह दीवार का सहारा लिये, स्टूल पर ही लुढका हुआ था। आँखें मलता हुआ वह उठ खड़ा हुआ। अच्छी-खासी धूप चढ आई थी। ईला अभी सो रही थी। सांस तीव्रगति से आ-जा रही थी।

वह तत्काल उठकर शेखर के साथ बाहर आया और उसे ईला के लिये तीन-चार टाइम के लायक दूध का प्रबन्ध करने को कहा और फिर स्वयं खारी गाँव जाकर ईला के लिये कुछ दवाइयाँ और फल-फूल इत्यादि लाने की तैयारी करने में लग गया। उसने शेखर को बताया कि वह शाम से पूर्व ही लौट आयेगा। इतनी देर ईला को अच्छी तरह सम्भाल लिया जाय, वक्त पर उसे दूध चाय इत्यादि पिला दी जाये और उसे किसी प्रकार की कोई असुविधा न हो, इतना ध्यान रखा जाय। यह सब ज़रूरी आदेश देकर वह नहाने-धोने के लिये चल दिया!

ईला जब उठी तो उसे बाहर शेखर खड़ा दिखाई दिया। उसने उसे बुलाया और पूछा—'उमाकान्त बाबू कहां हैं ?

'वो तो आधा घन्टा हुआ, खारी गाँव गये हैं।'

'क्यों ? वहां क्यों गये हैं ?' ईला को झटका-सा लगा।

आपके लिये दवाइयां, फल-फूल इत्यादि लेने के लिये।'

'ओ।.........खारी गांव कितनी दूर है ?' धंसी आवाज़ में उसने पूछा।

'यही पांच-एक मील।'

'पैदल गये हैं ?'

'हां।'

'ओ—! कब तक लौट आएंगे ?'

'शाम से पहले ही आने को कह गये हैं।' फिर कुछ रुककर शेखर ने कहा—'आप चिन्ता न करिये, आपको उनकी अनुपस्थिति में कोई असुविधा न होगी। अभी मैं विमला बहन को भेजता हूँ। वह आपको हाथ मुंह धुलवा देंगी। आपका दूध गर्म हो चुका है, तैयार रखा है। मैं आपके उठने की ही राह देख रहा था। अभी दूध इत्यादि भी भिजवा देता हूँ।' ..... यह कह, शेखर चला गया।

एक अभूतपूर्व सुख के आवेग में ईला के नेत्र अश्रुप्लावित हो गये। जो कुछ भी आज उसने पाया, उसकी प्राप्ति में जैसे वह चकरा गई और निर्णय नहीं कर सकी कि जो कुछ उसने पाया है, उसे वह कहां रखे ? कैसे रखे ? और इसलिये उसकी वह असमर्थता जैसे दीन की भांति तरल होकर नेत्रों की राह छलछला आई—कृपण की भांति उसमें कोई कृपणता न थी। उसने पहली बार सुख, उल्लास और गौरव का अनुभव किया।

सत्ताईस

उमा ने ईला का सब हाल डाक्टर को बताया और दो दिन की दवा ले ली। उसने डाक्टर से यह भी आश्वासन ले लिया कि यदि आवश्यकता पड़ी तो सूचना मिलते ही वह माले गांव आने में कोई संकोच नहीं करेंगे। तत्काल किसी भी सवारी से चले आवेंगे।

जब उमा 'क्लिनिक' से बाहर निकला तो दिन के दो बज रहे थे

उसने बाज़ार से डाक्टर द्वारा बताई गई कुछ मोसम्मियां और कुछ अनार खरीदीं और आगे बढ गया। रास्ते में उसकी नज़र एक चूड़ी वाले की दुकान पर पड़ी। वह सहसा रुक गया। कुछ देर सोचता रहा। फिर दुकान के भीतर जाकर उसने ढेर सारी चूड़ियों में से चौबीस चूड़ियों का एक सैट पसंद करके अपने साथ पैक करवाया और मुंह-मांगे पैसे चुकाकर वहां से चल दिया। इस 'आइटम' के खरीदने पर वह एक अव्यक्त-सा सुख महसूस कर रहा था।

यह दो रीते हाथों का शृंगार था। दो रीते हाथ वास्तव में बहुत ही संवेदना के पात्र होते हैं। नारी के अपने वर्ग में बहुत ही अशुभ, मनहूस और अपशकुन के द्योतक हैं। चूड़ियां नारी के जीवन में बड़ी महत्वपूर्ण होती हैं। उनके दर्शन से दृष्टि-लाभ होता है। नारीत्व उन्हीं से सार्थक है। हमारे मध्य यही चूड़ियों का आदर्श और महत्व है। उमा ने पैक करवाने से पूर्व उन्हें कई बार प्रसन्नता के अतिरेक में घुमा-फिरा कर देखा और उनकी चमक उसके नेत्रों में बस गई। ईला के जिन दो हाथों के स्पर्श से वह आज तक दूर-दूर रहता आया था—उन्हीं उपेक्षित हाथों को वह आज स्नेह, सुषमा, सौन्दर्य, सौभाग्य और सौख्य प्रदान करके सुशोभित देखना चाह रहा था। इच्छित वस्तु से वंचित वह हाथ अनायास ही अपनी प्रिय वस्तु की प्राप्ति पर दमक उठेंगे। उसके हर्ष का पार न होगा।

वह अपनी मस्ती में बढा चला जा रहा था। लगभग तीन बजे वह मारवाड़ी से कुछ ही दूर था। सूर्य का मद उतरने लग गया था। माले गांव अभी ढाई मील दूर था। साढे चार तक वह वहां अवश्य पहुँच जायगा—उसने मन ही मन अनुमान लगाया।

मारवाड़ी अच्छे खासे घरों की बस्ती थी। वहां भी ग्राम-सेवा संघ का दफ्तर था और आश्रम भी। वहां दो महिलायें और चार कार्यकर्ता रहते थे। मारवाड़ी बड़ा ही सुन्दर और रमणीय स्थान था। 'हैल्थ-रिसार्ट' होने के नाते दूर-दूर से लोग यहां आते थे। वायु परिवर्तन हेतु

तथा स्वास्थ्य वृद्धि के निमित्त। यहां की आबो हवा में उन्हें नया जीवन मिलता। पानी में भी ऐसा चमत्कार था, कि जितना भी खाओ-सब हज़म। पहाड़ी पर डाक बंगला था और यात्रियों के ठहरने के लिये अच्छा प्रबन्ध था। सराय भी थी और धर्मशाला भी।

आते समय उमा गांव के बाहर-बाहर से निकल गया था। अब वह प्रकृति की उस अनूठी चित्रपटी में से गुज़र रहा था, जहां तरह-तरह के घने, छायादार, वृक्ष खड़े थे। नीचे शीतल अंधेरा। घूमती-सी एक पगडंडी थी। चारों ओर सन्नाटा और शान्ति। ऐसी ठंडी हवा कि वाह—! घंटों की सारी थकान ही पल भर में गायब हो जाय। पेड़ों पर अनेक पक्षी कलरव कर रहे थे।

यह स्थान निर्जन भी न था। पास में किसानों के खेत थे और कुछ रखवाले यहां फलों के पेड़ों की ओर साग-सब्ज़ी की क्यारियों की देख-भाल के लिये नियुक्त किये हुए थे। उनका काम ही केवल सार-संभाल का था थोड़ी दूर ही एक कुआ था, जिसका पानी बहुत ही मीठा था। उसने सोचा, वह कुए पर पानी पीयेगा। वहां घड़ी-दो घड़ी बैठकर किसानों से बात चीत करके अपनी थकान मिटायेगा। यदि कुछ अच्छे, ताज़ा फल मिल गये, तो क्या कहना।

जिस स्थान पर से उमा गुज़र रहा था, वहां दिन में भी अंधेरा था। शीतल, सर्द हवा ने उसकी समस्त थकान को पल भर में दूर कर दिया-मानो उसे नई ज़िन्दगी मिल गई हो।

वह मंथर गति से बढ रहा था कि उसे सामने कोई हिलती हुई चीज़ नज़र आई। आगे चलने पर वह हिलना और भी स्पष्ट दिखाई देने लगा। वह हिलती-डुलती चीज़ उसी की ओर आ रही थी। फिर उसने देखा—कोई स्त्री है। फिर उसने देखा—और कलेजा धक् से रह गया। उस तंग रास्ते पर अब वह एक दूसरे के सामने थे। उसकी आंखें फटी की फटी रह गईं।

उसके मुंह से यकायक निकला—'गीता'………

करीब एक वर्ष बाद। उसे जैसे विश्वास ही न हुआ। उसे लगा कि यह कहीं भ्रम तो नहीं है, वह स्वप्न तो नहीं देख रहा ? उसका घुटता हुआ, अकुलाया हुआ अविश्वास डूबे हुए स्वर में फैल-फैल गया—'गीता'.........

'मुझे अब पहचानते भी नहीं मास्टरजी ?' वेदना से परिपूर्ण हंसी में गीता बोली। एक युग के पश्चात वह रोता हुआ स्वर उमा के कानों से टकराकर पृथ्वी के उस छोटे से कोने में कहीं डूब कर विलीन हो गया। उसकी छाती में चलते-चलते दिल रुक गया।

उमा को लगा जैसे उसका साल भर का यह कार्य और कार्य की प्रगति-सब निराधार और व्यर्थ था। सारहीन और विवेकहीन था। जो कुछ भी वह करता आ रहा था, उसमें उसे अपनी मूर्खता स्पष्ट और निश्चित दिखाई देने लगी। अपनी प्रिय और इच्छित सरहद पर लड़ाई के स्थान पर वह किन नई सरहदों पर संघर्ष करता रहा है ? अपने मंतव्य और मंज़िल की प्राप्ति का ध्यान और उद्देश्य भुलाकर वह किन सीमा-रेखाओं की ओर दौड़ता रहा है ? यह वह आखिर क्या कर रहा है ? क्या करता आ रहा है ?.........

गीता ही तो उसकी एकमात्र आकांक्षा थी, उसकी अभिलाषा, उसका अरमान, उसका जीवन। उसे नहीं पाने का भाव उसके लिये जीवन की सबसे बड़ी निराशा थी। और वही सामने खड़ी थी—वैसी ही सरल, सुषमा से पूर्ण, अबोध, निश्छल। वह उसे पा सकता है, वह प्राप्य है। फिर वह दूर-दूर क्यों भागता फिर रहा है ? वह उसे ही केवल ढूंढती हुई भटकती फिर रही है। और वह भी तो उसी की तरह विरहाग्नि में अब तक भटकता रहा है ? यह सब वह क्या कर रहा है ?........ आज गीता को नहीं पाने पर भी वह आज कैसे जीवित है, मर क्यों नहीं गया ?.........

उमा के समस्त पुराने घावों के बन्द खुल गये। अपने समस्त द्वेष, और कुसंस्कारों का परित्याग कर, उसका हृदय गीता के मन से संधि कर लेने के लिए आतुर हो उठा। उसका पुराना परिचित प्रेम जैसे आज

सहसा उस बहुत ही दीन अवस्था में कराहता हुआ दिखाई पड़ा और सब कुछ भूलकर उसने उसे अपने गले लगा लेना चाहा। उसके विप्लवी हृदय में भूत से सम्बन्धित जितनी भी स्मृतियां थीं—वे विप्लव की आंधी में सहसा उड़ गई थीं और केवल वर्तमान में उसे अपने चिरप्रिय स्नेह की लौ प्रत्यक्ष रूप में विदोर्ण अवस्था में दिखाई दे रही थी, जो घनीभूत होकर मस्तिष्क में पागल की तरह डोल रही थी। उसकी आंखें सजल हो आईं और आर्द्र। उसके जी में आया कि हाथ में की उन चूड़ियो को और दवा से भरी शीशी को दूर फेंक कर फोड़ दे। ईला मरे अथवा जिये। वह गीता के सहारे अपने नए जीवन का सूत्रपात करेगा और वह जीवन इतना सरस, इतना आकर्षक होगा—इतना आकर्षक कि संसार ईर्ष्या करेगा। यही उसके जीवन की नई सरहदें होंगी।……

'यहां अंधेरा है। उधर चलिये मास्टरज़ी। उस पेड के तने में बैठेंगे।' उस थकी-थकी आवाज़ में निमन्त्रण था। उमा जादू के प्रभाव में खिचता हुआ पीछे-पीछे चल दिया।

वह चाहता था—गीता का स्नेह उसका प्रकाश और ज्योति हो और ससार कर्म क्षेत्र। गीता का स्नेह अमृत की तरह टपके और वह उसे अपने गले के नीचे उतार कर अमर हो जाय।

वे दोनों चुपचाप पेड़ के तने में आकर बैठ गये। पास-पास, सटे-सटे।

सहसा गीता की साड़ी सिर पर से थोड़ी-सी खिसक गई। उमा ने प्रकाश में देखा—मांग में सिन्दूर भरा था।

उसके नेत्रों के सम्मुख अंधेरा छा गया। जैसे आकाश में उड़ते-उड़ते एक झटके में पृथ्वी पर आ गिरा। पत्थर फेंकने से जैसे पानी में एक हलकोर पैदा होती है और फिर पानी की सतह ही में कहीं विलीन हो जाती है, उसी प्रकार उसके हृदय में भी विचार सहसा कौंधा गीता की शादी हो चुकी। यह अब पराई है। पराई। और मन के अन्तराल में डूब कर रह गया।

उसके नेत्रों के सम्मुख फिर से ईला का वह रोग-ग्रस्त चेहरा और

आशा के सूक्ष्मतम तन्तु को थामे वह खुली हुई दो निष्प्रभ आंखें सजीव हो उठीं। उसका खांसी के झटकों में टूटता हुआ स्वर उसके मस्तिष्क में घूमने लगा।

उसने धागे से भी पतले स्वर में, कहने को कहा—'बहुत कमज़ोर हो गई गीता ? कब आई ? और कौन आया है साथ ?' जैसे जो कुछ भी पूछा गया—अनिच्छापूर्वक था। वह वहां से भाग छूटना चाह रहा था। वह नहीं चाहता था कि गीता के सौभाग्य और सुहाग से परिपूर्ण सुखी जीवन पर उसकी मनहूस परछांई पड़े।

गीता ने इस बात का कोई उत्तर न दिया। उसने प्रश्न का उत्तर अपनी गर्दन पर उधार रखा। दोनों मूक अवस्था में बैठे रहे। कोई किसी से नहीं बोला। दोनों चुप, नीरव भाव से शून्य में कुछ टटोलते रहे।……पुरानी स्मृतियां एक-एक सजीव होने लगीं और गीता ब्याहिता होकर भी ब्याह की बात भूल गई और साल भर पूर्व जो कुछ उसके जीवन में घटा था—उसी की कौड़ी-पाई का हिसाब संभाल कर बैठ गई। वह सब भूली-बिसरी बातें—प्रकाश और अन्धकार के छोटे छोटे पुंज, उसकी आंखों के सामने नाचने लगे।………

………वह आंधी और प्रलय का दिन, जब उसने मास्टरजी को पत्र लिखकर घर बुलाया था। उस दिन उसके मन में कितनी अतृप्ति थी, कैसी अशान्ति थी। वह आये भी थे किन्तु विलम्ब हो चुका था। ईला ने कुमुद के यहां ही उसे अपने भाग्य का निर्णय सुना दिया था। सुनते ही जैसे उस पर बिजली गिर गई हो। नियति के कठोर विधान ने उसका आशा-दीप एक प्रबल झोंके द्वारा बुझा दिया था। वह रसविहीन, आकर्षण विहीन और अभागिन बनाकर इस संसार में कराहती हुई हालत में फेंक दी गई थी। जब वह आये थे तो उसका जीवनशून्य था। उसका सब कुछ छिन चुका था। वह लाचार, असहाय और कंगाल भाव से देखती रह गई थी !

……कई दिनों तक उसके हृदय में संघर्ष चलता रहा। उसे केवल एक चमक दिखाई दी—वह थी निरंजन कुमार की। मन कहता

था— जहां मास्टरजी आसीन हैं, वहां अन्य कोई पुरुष अधीनस्थ नहीं हो सकता। क्या यही है तुम्हारा प्रेम ? तुम तो कहती थीं कि मरते दम तक यह स्थान केवल उन्हीं के लिये सुरक्षित है और तुमने तो अविवाहित रहने की कसम खाई थी। फिर आज यह सब क्या हो रहा है ? आज क्यों डिग रही हो ?

………दिन वीतते रहे। हृदय के भीतर कुछ था, जो धुंआ की तरह इकट्ठा होता जा रहा था और वह भीतर ही भीतर सुलग रही थी। यह जो कुछ था—बहुत ही प्रबल और वेगवान था। और उसे प्रतिपल सुलगाये रखता था। वह प्रतिशोध की ज्वाला थी। पूर्णता की तृष्णा थी। जब मास्टर जी ने ही जान बूझ कर उसके जीवन को अंधकार पूर्ण बना दिया था और स्वयं को पूर्णता प्रदान कर दी थी तो वह पीछे क्यों रहे ? वह भी बता देगी उन्हें कि उनके विना भी वह पूर्ण होकर रह सकती है। यही एक भाव उसे उकसाता था, प्रेरित करता था और कभी-कभी तो यह इतना प्रबल और प्रचण्ड हो जाता था कि वह प्रतिशोध लेने को उद्यत हो जाती थी।

………एक दिन वह इस दृढ़ निश्चय पर पहुँची कि उसके सब पुराने संकल्प निरर्थक और सारहीन हैं। मास्टरजी के लिए यों आँसू वहाते रहना और जीवित रहना केवल एक मूर्खता है। आशा का सूक्ष्म से सूक्ष्म तन्तु टूट चुका था। प्रतिद्वन्द्विता का कठोर भाव गहरा होता चला गया। वह मालकिन के पास गई और दृढ़ भाव से कह दिया— माँ, मैं अब शादी के लिए सहमत हूं।' माँ यह बात उसके मुंह से सुनकर उसे भोंचक्की-सी देखती रह गई थीं और वह कुछ कहें उससे पूर्व ही वह वहाँ से खिसक गई थी और फिर तकिये में मुंह छिपाकर देर तक फूट-फूट कर रोती रही थी। यह उसके हाहाकार की पराकाष्ठा थी।

………अगले महीने में ही उसकी शादी निश्चित हो गई। और आखिर शादी का दिन भी आ गया। शादी हो गई। वह अब एक पत्नी थी, क़ानूनन पत्नी, एक शास्त्रोक्त पत्नी। उसके प्रतिशोध का अन्तिम क्रुद्ध तूफ़ान।

……… दिन गुज़रते रहे। चन्द्रमुखी उसे भाभी के रूप में पाकर फूली न समाती थी और निरंजन कुमार बाबू को तो मानो स्वर्ग ही मिल गया था। गर्व और एक अभूतपूर्व उल्लास उनके मुख पर विद्यमान रहता था। वह जैसे सब कुछ भूलकर उसी में एकाकार हो जाना चाहते थे।

…………पर भीतर ही भीतर उसे कोई चीज़ खा रही थी। वह जानती थी कि यह विवाह दो हृदयों का वास्तविक सम्मिलन नहीं था। दोनों ने एक दूसरे को समर्पित नहीं किया था—कम से कम उसने तो नहीं ही किया था। वह यह सब सोचती पर विवश थी, चुप थी। वह यह भी जानती थी कि वह निरंजन को धोखा दे रही है, पर वह उसे यथार्थ का ज्ञान भी न करा सकती थी, वह चीख भी न सकती थी। जिसकी आशाओं की होली जल चुकी हो, आकांक्षाओं का विध्वंस हो चुका हो और इच्छाओं की समाधि सोई पड़ी हो—वह किस प्रकार दूसरे को प्यार करे? पति और पत्नी के मध्य जो एक पवित्र बन्धन होता है—वह बाह्य रूप से, अधिकार भाव से होता है। उसका अस्तित्व है, किन्तु उसमें सुन्दरता कहां तक है, सच्चा प्यार, त्याग कितने अंश तक है—इस बात को देखने वाले नहीं जानते थे। कोई नहीं जानता था। केवल वह जानती थी। भीतर ही भीतर सुलगती रहती थी और आँसुओं से रोती थी।

………हँसोड़ चन्द्रमुखी मिली, सास में साक्षात माँ की ममता मिली, सहृदय बैरिस्टर साहब जैसे ससुर और देवता तुल्य पति—किन्तु वह अभागिन किसी को भी पाकर सन्तुष्ट नहीं थी। अपनी इच्छित वस्तु के अभाव में संसार के सारे पदार्थ, ऐश्वर्य और सुख, धन की मादकता; गहने और लाड़-प्यार—सब उसके लिए तुच्छ थे। वह अभाव कुछ ऐसा था, जिसकी पूर्ति अब सम्भव न थी। अब मास्टरजी का चिन्तन तो दूर— उनके बारे में सोचना तक भी उस घर में एक पाप था। वह उनका विचार मन से हटाने की बहुत कोशिश करती किन्तु उनकी वह याद उसके मानस-पर और भी गहरी होती चली जाती। छाया की तरह वह याद उसके साथ-साथ लगी रहती। अपने कार्य अथवा व्यवहार

में किसी प्रकार की कोई त्रुटि न रहे, निरंजन कुमार को किसी प्रकार की कोई असुविधा न हो, वह उसके मन में बैठे चोर को समझ न जाएँ —इस दिशा में वह बड़ी सतर्क रहती किन्तु फिर भी कहीं न कहीं कोई त्रुटि रह जाती। पति केवल हँस कर रह जाते। और वह ग्लानि में डूब जाती। उसे यही विचार कचोटता रहता कि वह अपने आदर्श का पालन नहीं कर रही है। पति को भ्रम में रखने से पूर्व वह डूब क्यों नहीं मरती ?

………उसके पति एक पूर्ण पति थे किन्तु वह पूर्ण पत्नी न बन सकी थी। उसके मन का यह चोर उसे दिन-दिन खाता रहा। वह दुर्बल और क्षीण होती चली गई। वह बीमार रहने लगी। पति की चिन्ता बढ़ गई। उन्होंने उसे अच्छे-अच्छे डाक्टरों को दिखाया, हरचन्द कोशिश की, अन्धे होकर पैसा भी लुटाया पर उसकी स्थिति में कोई खास अंतर न आया। वह जानती थी, अब तो वह मर कर ही ठीक होगी। वह पति का चिन्ताग्रस्त, शून्य मुख देखती, उनकी आँखों में निराशा को डोलते देखती तो मन ही मन सोचती—मेरी आत्मा को मरने पर भी सन्तोष नहीं मिलेगा। मेरे कीड़े पड़ेंगे। मुझे भगवान उठा क्यों नहीं लेता ? अविवाहित रहती तो इनका तो जीवन नष्ट नहीं होता, इनके सुख-स्वर्ग में तो आग नहीं लगती।

………जब उसकी हालत ज्यादा खराब रहने लगी तो लोगों की राय से, उसे एक सप्ताह पूर्व, यहाँ मारवाड़ी वायु-परिवर्तन हेतु ले आया गया। साथ में पति, मालकिन और एक नौकर आया था। पति तो कल ही किसी ज़रूरी काम से दो-एक रोज़ के लिए शहर चले गये थे। इस एक ही सप्ताह में सभी उसके स्वास्थ्य में परिवर्तन अनुभव करने लगे थे और सभी प्रत्यक्ष रूप से सन्तुष्ट दिखाई देते थे।………

ओह, मास्टरजी बैठे हैं पेड़ों की जड़ों में—सोच में डूबे। उसे देखो, कब से बुत बनी, ख़यालों में गर्क थी। उसने भीतर ही भीतर अपने मन से पूछा—'गीता क्या अब भी तू नहीं मरेगी ? अपनी पूर्णता का बाह्य दर्प लेकर तू इन मास्टर जी का गर्व चूर्ण करने चली थी किन्तु

वहाँ भी तू परास्त हुई । तेरा झूठा दर्प तुझे ही खा गया । यह देख, मास्टरजी तो पूर्ण बैठे हैं, अपने ही सुख में मस्त । इन्हें तेरी चिन्ता है ? क्या अब भी तू नहीं मरेगी ? बोल, अब तेरे पास क्या-कुछ शेष रह गया है ? ....

वह समुचिष्ट उच्च स्वर में विचित्र-सी हंसी हंस पड़ी ।

उमा उस गहरी समाधि से जागा और उसने हतप्रभ हो, गीता की ओर देखा ।

वह विकम्पित स्वर में बोली—'आपके एक प्रश्न का उत्तर अब तक मेरी गर्दन पर उधार है मास्टरजी । आपने पूछा था—बहुत कमज़ोर हो गई गीता । कब आई ? कौन साथ आया है' ? ....यह कह उसका स्वर एकाएक रो पड़ा—'मैं हूँ, अम्मा हैं, वे भी थे–पति निरंजन कुमार । कल ही किसी ज़रूरी काम से एक-दो रोज़ के लिए शहर गये हुए हैं । मैं—मैं बीमार हूँ, इसीलिए मुझे यहाँ लाया गया है ।' यह कह, उसने मुंह दूसरी ओर फेर लिया क्योंकि आँखे सजल हो आई थीं और मुंह कुछ कड़वा-सा ।

दोनों क्षण भर मौन रहे । फिर गीता ही सूखी हँसी हँस कर बोली —'मेरे मुंह से मेरे ब्याह की बात सुनी और आपने मुझे आशीर्वाद भी नहीं दिया मास्टरजी ?' फिर सिर नीचा कर, एक तिनके से वह ज़मीन पर टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें खींचने लगी ।

उमा के मन में एक विचार तेज़ी से कौंधा—इसे अपने ब्याह की कितनी खुशी है ? यही तो वह गीता है, जिसने मेरे जीवन की समस्त खुशियाँ छीनली हैं । खुद पूर्ण होकर बैठी है—गर्व में फूली । उसके भीतर सीसा उबलने लगा । वह कुछ नहीं बोला ।

सहसा गीता की दृष्टि उमा के हाथ में पैक किये हुए चूड़ियों के उस सैट पर पड़ी । जैसे कितने ही दबे, अकुलाये उच्छ्वास आकर उसके होठों पर फैल गये—'आपका ब्याह हो गया मास्टरजी ?'

उमा जैसे इस प्रश्न के लिए प्रस्तुत न था । वह चुप रह कर जल्दी-

जल्दी सोचने लगा—जब यह आज अपने सौभाग्य पर इतना इतराकर बोल सकती है, तो मैं ही पीछे क्यों रहूँ ? मुझे इससे मिला ही क्या ? जलन, तड़प, वेदना ही तो। मैं भी क्यों नहीं यह प्रदर्शित करूं कि मैं पूर्ण हूँ सुखी हूँ। पैसे के पीछे भागने वाली, धोखेबाज़।

उसने मन में सोचे हुए विचारों की गूंज की तरह, स्पष्ट में कह दिया—'हाँ, मेरा ब्याह हो गया।' और तत्काल अपने ही कथन से डर गया—इतना बड़ा असत्य वह कैसे बोल पाया ?

और उमा ने तत्काल गीता के मुख की ओर देखा। जैसे कोई बादल उतर आया था मुख पर। फिर वह बादल तो जैसे छंट गया और वेदना से परिपूर्ण नीरवता का एक अटल भाव वहाँ बस गया। जैसे आज वह उसके सम्पर्कीय संसार से सदा के लिए टूटकर लुप्त हो गई, मानो उसने उस संसार में कभी प्रवेश ही न किया था।

उमा ने सन्तोष की एक घूंट ली।

कुछ देर बाद उसने एक और असहिष्णुता की। बोला—'तुमने मेरी शादी पर अपनी शुभ कामनायें प्रकट भी नहीं की गीता ?'

गीता तड़प कर उठ खड़ी हुई। वह भी उठ गया। दोनों मौन, मूक खड़े रहे। फिर गीता ने सिर ऊपर उठाते हुये कुण्ठित किन्तु स्पष्ट स्वर में कहा—'एक दिन परिस्थितियों का वास्तविक ज्ञान बतायेगा मास्टरजी, कि सचमुच दोषी कौन था। उस दिन……' ढेर सारे आंसू उसके गालों पर बह चले—'उस दिन, आप पछतायेंगे। अभी क्या कैफ़ियत दूं ? मैं चलती हूँ। मुझे क्षमा कर देना'……और मुँह में पल्लू ठोंस, वह तेज़ी से एक ओर बढ़ गई।

उमा जड़वत् बना देखता रह गया। गीता की कही हुई अन्तिम बात उसके दिल और दिमाग़ पर तेज़ी से रेंगने लगी और उसका कलेजा धड़कने लगा। उसका मन हुआ कि भाग कर वह गीता को रोक ले और पूछे कि वह यह क्या कह गई है, उसका क्या आशय था ? पर तब तक वह पेड़ों की ओट में ओझल हो गई थी।

वह अपने सीने पर अब भी उसके वह उठते हुये, लड़खड़ाते-से पांव महसूस कर रहा था। कुछ देर वह पागल-सा खड़ा रहा और फिर अपनी राह पर चल पड़ा। उसे यों अनुभव हुआ जैसे उसके पैरों की सारी शक्ति जैसे लुप्त हो गई थी और वह थका-सा बैठ जाना चाहता था।

चारों ओर नीरव अंधकार फैल रहा था और दूर-दूर मवेशियों और घंटियों की आवाज़ें आ रही थीं।

अट्ठाईस

रात के क़रीब ग्यारह बज चुके थे। ईला को एक खुराक दवा उमा ने पहुँचते ही पिला दी थी और थोड़ी देर बाद मौसम्मी का रस दे दिया था। अब दूसरी खुराक का टाइम होने आया। उमा ने दीये को कुछ तेज़ किया और फिर चम्मच में दूसरी खुराक डालकर उसे देते हुये कहा—'लो। दवा पीलो।'

ईला आंखें बन्द किये हुये, पता नहीं क्या सोच रही थी। आंखें खोलकर उसने अपने कांपते हाथ से चम्मच पकड़ी और लेटी-लेटी दवा पी ली।

'ज़्यादा जी घबरा रहा हो तो डाक्टर बुलवा भेजूं?' उमा ने सस्नेह पूछा। ईला फीकी हंसी हसते हुये बोली—'अब कुछ नहीं चलेगा उमाकान्त बाबू······आपकी सब कोशिशें बेकार हैं। मेरा अन्तिम पड़ाव आ गया है।'······

उमा ने दवा की शीशी को 'कार्क' किया और चम्मच को पानी से धोकर ताक में रख दी। फिर मौन बना, कमरे में इधर-उधर चक्कर काटने लगा।

ईला की आंखों और मुंह पर सूजन आती चली जा रही थी।

उसकी घबराहट की मात्रा भी पहले की अपेक्षा बढ़ चली थी। रह-रह कर पानी मांगती थी। लेटती थी और फिर छटपटाने लगती थी। उमा स्टूल लेकर उसके बिल्कुल पास बैठ गया और देखने लगा। जैसे किसी गहरी समस्या का हल ढूंढ रहा हो।

विमला और शेखर दोनों ही इस बीच दो बार आकर ईला की तबियत के बारे में पूछ चुके थे। बाहर चाँदनी छिटक रही थी।

सहसा ईला व्यथित स्वर में बोलीं—'मैं जीवन में थक चुकी हूँ उमाकान्त बाबू। मैं जीना नहीं चाहती और मर भी नहीं रही'... ..फिर विचित्र हंसी हंसते हुये बोली —'स्त्री-जीवन की महत्ता प्रेम करने और किये जाने में होती है। प्रेम का विनिमय स्त्री जीवन का शृंगार होता है—उसके स्त्रीत्व का विकास। किन्तु मेरे लिये वही शृंगारमय जीवन केवल नैराश्यपूर्ण रहा है। और मेरी यही सबसे बड़ी हार है......।'

वह कुछ रुकी, फिर उसी प्रकार कहने लगी—'मैं वास्तविक ईला नहीं हूं क्योंकि वास्तविक ईला तो बहुत गिरी हुई थी। वह तो कभी की मर चुकी। मैं तो केवल उसके दुष्कर्मों की कहानी आपको सुनाने आई हूं। उफ़, गला सूख रहा है। पानी......'

उमा ने पानी के स्थान पर दूध देते हुए मृदुकण्ठ से कहा—'लो, थोड़ा दूध पी लो। पानी तो बहुत हो चुका।'

ईला तंग आ गई थी, मुंह कड़वा करती हुई उठी। उमा ने सहारा दिया और ईला ने दो चम्मच किसी तरह लिये और तीसरी चम्मच को उसने सामने से बलपूर्वक हटा दिया और पुनः लेट गई।

उमा बोला—'अब तुम कुछ आराम करो ईला। कुछ शांति मिलेगी।'

किन्तु ईला नहीं मानी। उसने कहा—'अभी जितना आपको मेरा ध्यान है, मेरी वास्तविकता को जान लेने पर यह सब ग़ायब हो जायेगा बल्कि घृणा से मुंह मोड़ लेंगे, मेरे मुंह पर थूकने को मन करेगा आपका। आप मेरी छाया से डरेंगे और शायद भाग छूटेंगे.........' वह छटपटा रही थी।

'ऐसा क्या किया है तुमने ? ऐसी बातें नाहक क्यों कर रही हो ?' उमा ने कहा ।

'मेरा जी बहुत घबरा रहा है उमाकान्त बाबू । मुझे ज़रा बिठा दीजिये ।' अपना सम्पूर्ण बल लगाकर वह बोली ।

उमा ने झट से तकिये का सहारा लगाकर उसे बिठा दिया । वह भट्टी की तरह सुलग रही थी । उसका ताप उस तक पहुंच रहा था ।

घड़ी की सूई आगे बढ़ती जा रही थी—टिक-टिक, टिक-टिक । चारों ओर नीरव स्तब्धता फैली हुई थी । वह विमूढ़ भाव से उसे केवल देखे जा रहा था ।

ईला कुछ देर मौन अवस्था में बैठी रही, जैसे ख़ामोशी के गर्भ से वह कुछ खींचकर निकाल रही हो । दो आत्माओं के बीच सन्नाटे की इन भारी घड़ियों को ईला की गर्म-गर्म श्वांसें चीर रही थीं ।

सहसा वह विक्षिप्त-से स्वर में बोली—'अब तक जिस बात को मैंने रहस्य की तरह पाला है, उसे अब और अधिक देर अपने सीने में छिपाये रखने की शक्ति मुझ में नहीं है उमाकान्त बाबू । यह जो अब मेरी शेष धड़कनें हैं, इन पर मुझे विश्वास नहीं है । यह आती हुई सांसें न जाने कब अचानक रुक जाएँ और मैं वह बात कह भी नहीं सकूं, जिसको कह देने की लालसा लेकर मैं यहाँ तक आई हूं । यदि नहीं कह सकी तो मेरा उद्देश्य अपूर्ण रह जायेगा । मेरा अपराध अक्षम्य ही बना रहेगा और मेरा दुष्कर्म मृत्यु के उपरान्त भी मेरी आत्मा को उत्पीड़ित ही बनाये रखेगा ।......' यह कह, वह रुकी । मानो सांस लेने को रुकी हो ।

उमा जड़वत्-सा बना सुनता रहा । उसके कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था ।

ताक़ में रखे दीये की लौ मचल कर बल खा रही थी और घड़ी की सूई रात के दो बजा रही थी ।

ईला कष्ट से रूद्ध स्वर में बोली—'गीता आपसे प्रेम करती थी;

आपको सर्वस्व मानती थी। उसके उस प्रेम की सफलता ने मेरे भीतर की नारी को ईर्ष्यालु बना दिया। प्रेम में असफल होकर मैं विद्रोहिणी हो उठी। मेरे समस्त ज्ञान पर धुंध बिखरी हुई थी। मेरे अधीर, उन्मत्त विवेक ने असत्य और विश्वासघात का आश्रय लिया। मैंने गीता से कह दिया कि आप मुझसे विवाह कर रहे हैं। उसका स्वर्ग लुट गया.........'

'ईला—' उमा पागलों की तरह चीखा। और फिर ऐसे बैठा रह गया, जैसे बिजली का मारा ताड़ वृक्ष—जैसे भीतर से जला हुआ कवन्ध खड़ा रह जाता है।

उसके दिमाग़ में झनाक्-सा हुआ—'परिस्थितियों का वास्तविक ज्ञान बतायेगा मास्टरजी कि दोषी कौन था और उस दिन आपको पछताना पड़ेगा।'

क्षण भर में सारा भूला-बिसरा, पिछला इतिहास उसके समक्ष सजीव हो उठा। एक झटके के साथ वह ईला से दूर जा खडा हुआ और उसे भयभीत दृष्टि से देखने लगा—जैसे पक्षी बाज़ को देखते हैं, मेंढक सांप को देखते हैं!

'मुझे क्षमा कर दो उमाकान्त बाबू। मैं आपसे भीख मांगती हूं। वह मिलने पर ही मैं सुख से मर सकूंगी।'......... ईला फूट-फूट कर रोने लगी।

'क्षमा.........?' वह भीषण हंसी हंस पड़ा।

दीये के धुंधले प्रकाश में उसके नेत्र फटे पड़ रहे थे। उसकी आकृति तन गई। उसे यों अनुभव हुआ जैसे क्षमा का गुन्जन भरे उत्ताल तरंगें उसके चरणों में लोट-लोटकर अपना सिर फोड़ रही थीं और वह चट्टान की तरह कठोर, चेतना-वेदना विहीन खड़ा हुआ जैसे उन लहरों को दुतकार रहा था। अपनी उस समर्थता पर उसमें एक विचित्र-सी

स्पष्ट अनुभूति का स्फुरण हुआ, जिसमें आत्मा का सन्तोष सन्निहित था और प्राणों के अलौकिक हर्ष का पुलकन अङ्कित था।

वह कमरे में प्रेत से डग भरता हुआ इधर-उधर घूमने लगा।

उनतीस

घूमते हुए उसने अनुभव किया कि शान्ति की मृत्यु ईला का बड़ा स्वार्थ है। इसके भीतर जो अपराध की काली छाया फैल रही है, मेरी क्षमा की मोहताज है। मेरी क्षमा इसके दावानल को बुझा सकती है, उसकी संतप्त आत्मा को सुख प्रदान कर सकती है। वह सुख से मरना चाहती है—यही इसकी सबसे बड़ी साध है। और उसकी यह आकांक्षा परतन्त्र है, वह क्षमा की भिक्षुक है। सुख से मरने में भी वह कितनी विवश है। इसके स्वार्थ की पूर्णता मैं हूँ। इसकी गति मेरा छोटा-सा 'हां' है। वह मेरे आधीन है। मैं पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हूँ। यह मेरा दान चाहती है। मैं पूर्ण हूँ, कुबेर हूँ, मैं कुबेर हूँ।.........

उमा की आत्मा विजय और अभिमान से भर उठी। सबलता और समर्थता के इस क्षणिक झौंके ने उसे प्रसन्नता के अथाह समुद्र में फेंक दिया, जहां वह ईला की विवशता और उसके इस प्रकार स्वयं को एक प्रार्थी के रूप में प्रस्तुत करने पर वह खुशी की डुबकियां लगाने लगा।

सहसा हिचकियों में टूटता हुआ ईला का स्वर उसने सुना—'आप मुझसे घृणा करिये उमाकान्त बाबू 'मेरी काली छाया को अपनी निर्मल देह पर मत पड़ने दीजिये, यह आपको लील जायगी.........' आगे के सारे शब्द जैसे आंसुओं के प्रवाह में बह गये।

उमा चेतना-वेदना विहीन उसी प्रकार घूमता रहा।

'ईला मर चुकी है, उमाकान्त बाबू। आज जो आपके सामने ईला है—वह केवल ईला के पापों की काली छाया है। आज मुझे अपने

अस्तित्व से घृणा करिये, मुझे तभी शान्ति मिल सकेगी। जिन आंखों की मैंने अथाह उपेक्षा देखी है, तिरस्कार देखा है—उन्हीं आंखों की घृणा देखने की मेरी अन्तिम अभिलाषा है।' उसअवरुद्ध रोदन से ईला का स्वर अब अस्पष्ट हो चला था।

उमा अब थक कर, खिड़की का सहारा लेकर खड़ा हो गया और उस नीरव निशीथ में, उस शून्य में, आंखें गड़ाये बाहर कुछ ढूंढने लगा।

ईला सुबक रही थी—'मैं विश्वासघातिनी हूँ, पापिन हूँ। आप मुझसे घृणा करिये उमाकान्त बाबू। मैं हाथ जोड़ती हूँ। मुझसे घृणा करिये।'

उमा पाषाणवत् खड़ा जैसे कुछ काल्पनिक रेखायें खींच रहा था। कुछ बन और बिगड रहा था। जो बन रहा था, स्पष्ट नहीं था, विलीन हो-हो जाता था।

ईला की सांसें संघर्ष कर रही थीं। इस अवसान काल में निश्चेष्ट हो सो जाने से पूर्व उसका समस्त अस्तित्व मानो सजग होकर यथाचेष्ट साहस द्वारा द्वन्द्व में संलग्न था और उसके तत्व अब मानो किसी गहरी समाधि की पूर्णता की ओर प्रयत्नशील थे। मधुचक्र से उस कलेजे में वेदना की भन्नाहट के बीच, हुक-हुक हिचकियां खिच-खिच कर टुकड़ों में टूट रही थीं। सहसा, उसने करवट ली मानो, अपने कलुषित मुंह को उमा के पवित्र दृष्टि-पथ से छिपाने का यत्न किया।

उमा ने हतप्रभ-सी दशा में उसकी ओर पलट कर यह देखा। उसे यों अनुभव हुआ जैसे वह उपेक्षिता नारी किसी शीतल गोद में छिपने के लिये छटपटा रही थी और किसी स्नेह की अनुपस्थिति में वह वंचिता अब अपने आपको समेट लेना चाह रही थी।

वह उधर मुंह किये हुए ही, उच्छ्वासित टूटते हुए स्वर में बोली-'मैं आपके संसार में एक कांटा थी—हृदय में सदा चुभने वाली। मैं एक आंधी थी—आपकी शान्ति को भंग करने वाली। अब आप स्वतन्त्र होंगे। मैं भी देखिये, कैसी अभागिन हूँ, जो पहले कुछ नहीं सोच सकी

और अब यह सब सोच रही हूँ । अब क्या हो सकता है ?………उफ़, प्रेम में असफलता नारी को दानवी बना देती है । ईर्ष्या उसकी समस्त कोमलतम अनुभूतियों का अन्त कर देती है………।'

उमा ने देखा, ईला थककर सांस ले रही थी ।

वह पुन: अपना सम्पूर्ण बल एकत्र करती हुई बोली—'आपके जिस प्रेम से मैं सदा वंचित रही, उसे आज आपके निकट आकर पाने की मैं कदापि इच्छुक नहीं हूं । हां, आपके क्रोध को, आपकी घृणा और आपके न्याय को मैं आंचल पसारकर लेने को उद्यत हूँ । आपकी घृणा को अमृत मानकर मैं पीने को अधीर हूँ । और आपके दण्ड से तो मेरी मुक्ति होगी, उमाकान्त बाबू ।'………

उमा की सम्पूर्ण चेतना ने यह सब सुना । वह उसके एक-एक पश्चाताप पूर्ण दीर्घ नि:श्वास का मूल्य आंकने का प्रयास करने लगा । 'क्षमा' को लेकर, जो उसका अभी कुछ देर पूर्व अभिमान और गर्व-भाव था, और जिसके पार्श्व में उसकी अपनी आत्मा का क्षणिक आनन्द कुटिल हंसी हंस रहा था, वह अब जैसे निस्तेज होता जा रहा था और अब उसके स्थान पर करुणा का भाव जागकर, उसकी न्याय-बुद्धि से तर्क कर रहा था—क्या ईला वास्तव में यहां प्रायश्चित की भावना लेकर आई है ?

और यह प्रश्न अपना आकार बढ़ाता हुआ उसके बोझिल मस्तिष्क में फैले विचारों की भीड़ में ठेल-ठूल कर रहा था ।

उस शैय्या से जैसे कोई अस्पष्ट-सी ध्वनि उठी—'मैं तो चाहती हूँ कि मेरी दुर्बलता अपराधों की स्मृति बनकर मुझे डंक मारे और उससे जो उत्पीड़न हो, उससे आप सन्तुष्ट हों । आप मुझे अभिषाप की अग्नि में जलते हुए देखकर खुश हों………।'

उमा की करुणा कुछ और जागी । यह करुणा का भाव जैसे मृतक का अन्तिम संस्कार था । इसमें नवीनता न थी, कोई वैचित्र्य भी न था । वह सभी में होता है । वह—वह होता है, जो एक इन्सान दूसरे इन्सान

के प्रति मानवता के नाते साधारण अवस्था में भी प्रदर्शित करता रहता है।·········वह खिड़की से हटकर स्टूल पर आ बैठा।

वह जैसे कब्र में से बोल रही हो, इस प्रकार बोली—'मेरे जीवन में अब तक दो घटनायें घटी हैं। मेरा यौवन एक बार हंसा है और मेरा प्यार एक बार रोया है। जब मैंने असत्य का सहारा लेकर गीता को परास्त किया और उसके जीवन की समस्त अभिलाषाओं को जलते हुए देखा तो मेरा यौवन विजय और गर्व से मुस्करा उठा था। और आज जीवन के अन्तिम पड़ाव पर आकर जो शान्ति मुझे मिली है, जो निधि मुझे प्राप्त हुई है—उससे मेरा प्यार खुशी के मारे रो पड़ा है।'·········

इस विकृत और उथले हुए स्वर से उमा कुछ हिल उठा। उसने देखा—प्रार्थना में झुकी हुई वह दो आंखें, उनसे झरने वाले आंसू की एक-एक बूंद जैसे उसके दण्डित-होने पर स्वेच्छारूप से टपक रही थी। जैसे वह अपने कर्म-फल को सहन करने के लिये बज्र के समान सबल और कठोर हो गई थी। अपनी दुर्बलता के लिये किसी कृतज्ञता का बोझ लेना उसकी नियति ने उसे नहीं सिखाया था। अश्रुप्रवाह में मानो वह अपनी समस्त दुर्बलताओं, उत्पीड़ाओं और पापों को परिष्कृत कर रही थी।

वह बड़बड़ा रही थी—'सब कुछ भुला देना। याद भी, कल्पनायें भी। बस सोचना, थी कोई—चली गई। संसार में मेरा आपका इतना ही संसर्ग था। आकाश में बादलों के बीच, सूर्य से, चन्द्रमा से झांककर केवल एक ही प्रार्थना करूंगी कि आप सुखी रहें।·········पुरुष का बुद्धिवाद ईला के टूटे जीवन को·········नहीं जोड़ सकता। ख़ुदा बाप·········यदि तेरी इच्छा·········पूर्ण हो गई हो·········इस हाड़-मांस में··· ·····चेतना को रखने के दण्ड की········ अवधि··· ·····पूरी हो गई हो·········तो एक बार·········हंस दे·········कि मैंने·········तुझे उत्पन्न करके ·····भर पाया ······ ख़ुदा बाप·········'

उमा ने धीरे से पुकारा—'ईला।'

उसने नहीं सुना। वह उसी प्रकार अर्द्ध चेतनावस्था में बोलती रही—'माइकल·········तू रो रहा है·······वह चाबियां रखी हैं·········उमाकान्त·········बाबू·········आप क्यों·········मेरे·········जीवन में······आये·········आप········रसाल वृक्ष········थे·········मैं लता की·········तरह······आज तक······आपसे······लिपटी हूँ······लता का तो······यही धर्म है······कि जो समीप······अवलम्ब मिले······उसे ही······पकड़······ले······और······ऊंचा······सिर करके······खड़ी······हो जाय।······

उमा ने घबराकर उसे झंझोड़ा—'ईला ! ईला !'

'माइकल······तू आर्फन है······मैं······भी आर्फन······हूँ······तू रो···मत। कुमुद······आप······उठाकर······मुझे······अस्पताल······लाये······मुझे······क्यों······बचाया······हाय री······बदकिस्मती······यह कौन······नाच······रहे हैं······यह······मुझे कौन······लेने······आया······है······ईसू मसीह······'

'ईला।' उमा ने इस बार ज़ोर से पुकारा।

ईला ने सहसा आंखें खोलीं। सहसा उसके नेत्रों से दो गर्म बूंद आंसू टप-टप ईला के मुख पर गिर पड़े। उसके होठों पर एक उज्ज्वल मुस्कान फैल गई।

उमा ने पागल की-सी अवस्था में झट-झट वह कंगन निकाल कर ईला को पहना दिये। वो सुन्दर, सुनहरी चूड़ियां दीये की रोशनी में दमक उठीं।

और दूसरे ही क्षण वह हाथ लद् से सीने पर आ गिरे। वह उन्हें दुबारा न उठा सकी। नसें तन गई थीं और नेत्र मुंद गये थे—जैसे चूड़ियों की चमक का आह्वान करते-करते उसने उस चमक को निधि स्वरूप सदा के लिये आंखों में मूंद लिया।

उमा ने देखा—ईला के मुख पर एक सतेज दीप्ति और अलौकिक आत्म-विश्वास अब भी प्रस्फुटित था।

और आगे का सारा पथ फिर अश्रुओं से धुंधला पड़ गया।

उसकी अपनी 'फिलासफ़ी' में पता नहीं इस मृत्यु का क्या स्थान था। उसके मन में कुछ कड़ियां गूंजीं—

'साथी सो न, कुछ कर बात साथी
बात करते सो गया तू
स्वप्न में फिर खो गया तू
रह गया मैं और आधी रात, आधी बात···साथी।'···

तीस

आकाश-आकाश में मिल गया, पृथ्वी-पृथ्वी में, वायु-वायु की ओर उड़ चली और जल-जल की ओर बह गया, और ईला की स्मृति का तब केवल एक स्मारक चिह्न रह गया—और वह थी उसकी कब्र।

अभी जैसे बहुत से काम बाकी पड़े थे। उमा ने सोचा, मनुष्य के हिसाब-किताब में काम ही तो बाकी पड़े मिलते हैं। उसने यह सब सोचा और माले गाँव से चल दिया।

चिलचिलाती धूप में वह ऊँट पर बैठा, अपने आप ही धीमे-धीमे गुनगुना रहा था—

ऊंट मेरा चल रहा है दूर एकाकी विजन में !
तरु अड़े दो चार बन में
चुप खड़े निस्तब्ध मन में
क्षुधित वसुधा मौन लेटी झाँकती किस आश से यूं
तप्त ग्रीषम के गगन में
सूर्य प्रचण्ड प्रखर नीरव
वायु गति-हत-हीन-वैभव
दृष्टि की सीमा तलक सब, म्लान, मौन, मलीन प्रकृति
सो रही एकान्तपन में !!
आज मेरे चित्त पर फिर
शून्य-सा कुछ आ रहा घिर

दूर अन्तरमय हृदय से, करुण रोदन कामना का
छा गया तन में बदन में !!
एक चरम अभाव जाग्रत
वेदनामय स्मृति पुलकित
दूर तुमसे जा रहा जो, चीख कर अब प्राण तज दे
गा सजनि इस विजन बन में !!
कामना के विगत मधु क्षण
एक असह्य, असीम क्रंदन
प्रेयसि की मधुर छवि, बन वेदना दारुण समाई
शून्य के प्रत्येक कण में !! ऊँट मेरा......

और यों ही ऊँट चलते-चलते एक जगह रुका । कड़ियाँ बिखर गईं ! उमा ऊँट पर से उतर कर तपती हुई धरा पर आकर खड़ा हो गया । वह खड़ा रहा......नीरव, जड़वत् सा, फिर जैसे उसने अपनी दृष्टि दूर-दूर तक फैलाई—वह कुछ सोचता रहा—उसकी अन्वेषक बुद्धि तत्वों का विश्लेषण करती हुई जैसे एक बड़ा भारी सत्य ढूंढ लाई—कर्म ।

और उसने देखा, वह एक टीले पर खड़ा था—तना हुआ, चट्टान की तरह सुदृढ़ और कर्म-क्षेत्र उसके सम्मुख पड़ा था यों—विसरा हुआ । उसने सोचा, कर्म ही सबसे बड़ा सत्य है । सेवा ही सबसे बड़ा धर्म । ......मनुष्य के हिसाब-किताब में काम ही तो बाकी पड़े मिलते हैं ।...वह तत्पर हो, ऊँट पर बैठ गया—और ऊँट फिर से चल पड़ा—दूर कर्म-क्षेत्र की ओर ।

ईला की अन्तिम धड़कनें जैसे कुछ सिखा गई थीं—'स्वावलम्ब', 'आत्म-मुक्ति', 'आत्म-परिष्कार' । उमा के जीवन का जैसे पुनर्निर्माण हुआ । उसके प्राण उस कर्म-क्षेत्र में सेवा की लगन लिए हुए जूझ पड़े ।

उमा आँधी और तूफान की तरह अपने कर्म में अग्रसर हो रहा था । ग्राम-सेवा संघ ने मानो नव जीवन पाया । चारों ओर हलचल मच गई । कार्यकर्त्ता फिर से सचेत हुए और कर्त्तव्यआरूढ़ हो गये । दिन बीतने

लगे। जो संघ गिरने लगा था, उसका फिर से निर्माण हुआ। दर्शक स्तम्भित थे।

और दिन बीतते रहे।

गाँवों ने जैसे अपना पुराना चोला उतार फैंका था और अब संगठन और स्वावलम्ब के सुन्दर नमूने बन गये थे। गाँव में सफाई नज़र आ रही थी। टूटी-फूटी सड़कों की ग्रामीण स्वयं मरम्मत कर रहे थे। खड्डों इत्यादि को और दरारों को भरा और बूरा जा रहा था। चारों ओर नई सड़कों की व्यवस्था भी किसानों ने ही कर लीं थी। स्कूलों की स्थापना हो रही थी, जिन्हें हिन्दू-मुस्लिम, युवा और वृद्ध हाथों ने ऊपर उठाया था। नवयुवकों का ग्राम-सेवादल अनथक परिश्रम कर रहा था। मद्य-निषेध पर काफी ज़ोर दिया जा रहा था। साम्प्रदायिक एकता जैसे मूलतन्त्र बन गई थी। प्रत्येक किसान उत्साहपूर्वक, सगर्व अपने सुन्दर अस्तित्व पर मानो मधुर हंसी हंस रहा था। प्रत्येक फूंस निर्मित झोंपड़ी से चर्खों की मधुर ध्वनि आ रही थी।

गांव जैसे एक अलौकिक दीप्ति से दीप्त हो उठे थे और ग्रामीण जैसे मलीनता का बहिष्कार कर परिष्कृत हो गये थे। उनकी आँखों में विचित्र ज्योति थी, ललाट पर एक तेज, सीनों में दुर्दम्य साहस और पैरों में अथाह शक्ति। जैसे वह समान गति से उत्थान के उस लक्ष्य की ओर आरूढ़ हो रहे थे।

संध्या हो गई थी। उमा सेवा सदन में बैठा कुछ एक पत्रों में उसे दी गई बधाईयाँ पढ़ रहा था। आज उसका मन हर्ष से उल्लसित था और प्राणों में अकथनीय प्रसन्नता भरी हुई थी। सहसा, कोई उसे एक निमन्त्रण-पत्र दे गया और एक और लिफाफा। उमा ने पहले निमन्त्रण पत्र को पढ़ा। असीम सुख उसकी समस्त नसों में व्याप्त हो गया। परगने के सारे गांवों ने उसके नेतृत्व में 'किसान-दिवस' मनाने का एक भारी आयोजन किया था। इसके लिए सब गांवों ने मिलकर माले गाँव से तीन मील दूर हरी गाँव को चुना था और रात्रि के नौ बजे का समय नियत किया गया था।

बन्द लिफाफे को उसने खोला और पढ़ना शुरू किया ।—

'मास्टरजी,

धीनोरा से लौटने पर सुशी से मुझे पता चला कि आप का विवाह नहीं हुआ है। हम एक दूसरे को पारस्परिक ऊँचाईयों के वशीभूत होकर छलते रहे हैं। अपने ही मापदण्डों और अहंकारों को लेकर नई सरहदों की खोज करते रहे। हम दोनों में से किसी ने भी कृतज्ञता का बोझ लेना नहीं स्वीकारा और हमें हमारा ही झूठा दर्प खा गया ।

पर अब बहुत विलम्ब हो चुका है। अब मेरे चेतन-मानस में उसका कोई प्रतीकार भी नहीं है। यदि कुछ है, तो इन सन्दर्भों में आपके लिए मेरी समस्त शुभ कामनाएं हैं। मेरे हृदय में आपके प्रति वही आदर-भाव बना रहेगा, जो आज तक था।

अधिक क्या लिखूं ?

—गीता।'

संध्या का समय हो गया था। अनायास ही उसकी आंख से एक आंसू टपका और पत्र पर फैल गया। उसने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ा और मारवाड़ी चलने के लिये उठ खड़ा हुआ।

रास्ते में उसने देखा, गांव के गांव उलट रहे थे। जैसे जन-स्त्रोत उमड़ा चला आ रहा हो। उसके दृष्टि-पथ के सम्मुख चारों ओर सब रास्तों पर खादी के वस्त्र धारण किये, खादी की टोपियां पहने लोगों का समुद्र-सा बहता जा रहा था। हाथों में लट्ठ लिये और उज्ज्वल सात्विक वेश-भूषा में परिष्कृत, वह जैसे प्रहरी थे, जो मानो भारत मां पर कोई संकट आ जाने पर उसका उद्धार करने के निमित्त, उसकी रक्षा के निमित्त, आगे बढ़े जा रहे थे। वह वन-प्रदेश जैसे इस माया से मुखरित हो उठा था। वह धवल टोपियां—पंक्ति-बद्ध-सी, दीप माला के जैसे दीपक हों, जो निविड़ अन्धकार में अपने प्रकाश से जगमगा उठी थीं।.........

रात उसने मारवाड़ी में ही विश्राम किया। और रात भर गीता

को लेकर न जाने वह क्या-क्या सोचता रहा—न जाने क्या-क्या। और सूर्योदय पर वह पुनः चल पड़ा। सवेरे की प्रथम किरणों के साथ प्रथम स्वर लहरी उसके कानों से टकराई—

उठ रे किसान आया प्रभात
आया प्रभात उठ रे किसान।
सदियों की तन्द्रा को तजकर
अब नयन खोल फड़फड़ा गात ।। आया प्रभात………

इस बुलन्द स्वर लहरी ने जैसे उसकी समस्त चेतना को झकझोर डाला और तब अनायास ही स्वच्छ, निर्मल प्रसन्नता की आभा उसके मुखपर रंग गई। उसने देखा, नवयुवकों का एक दल उच्च स्वर में गाता चला जा रहा था………

संध्या के झुटपुटे पर वह मालेगांव पहुँच गया। कुछ ही विश्राम लिया था………कि प्राण फिर सजग हो उठे। एक नई स्फूर्ति, एक नई चेतना और एक नवीन शक्ति उसके प्राणों में संचारित हो उठी—

रे अपने सूखे प्राण देख
रुखे केशों के देख तार
रे रुधिर हीन निज चाम देख
सूखी चमड़ी पर धूली भार…

अब हरी गांव तीन मील दूर था। वह गांव से बाहर निकला ही था कि सहसा उसके पैर रुक गये। वह मूर्ति की तरह जड़वत् खड़ा रहा। कुछ देर शून्य की ओर देखता रहा। सारे रास्ते भरे थे और कितने ही किसान उन रास्तों पर से सगति उत्साहपूर्वक बढ़े जा रहे थे। वह यन्त्र-चालित-सा बढ़ता रहा और अनायास ईला कि कब्र के निकट जा खड़ा हुआ। न जाने, वह मूर्च्छित-सी अवस्था में कितनी देर खड़ा रहा। असंख्य तारे छिटके हुए थे। अस्त-व्यस्त नक्षत्र। खुले हुये अन्तरिक्ष से अधीर स्मृति के समान वह उज्ज्वल होकर जैसे चमक रहे थे। स्मृति लाभ बनी और तारे बिन्दु। उसने फिर जैसे कोई रेखा खींची—तारों को बिन्दु मानकर। सहसा, उल्का-पात और हुआ उसका

रेखा-गणित विद्युत की भांति झटका खाकर टूट गया। तभी उसके कानों में स्वर आया।

रे अपने सिर की पाग देख
अपने तन पर का देख चीर
जिनमें पड़ता सब गात देख
जिनका हर हिस्सा लीर लीर......
अपने दुःख दारिद में निहार
तापस जीवन का शुभ निशान
उठ रे किसान.........

सहसा उसकी वह गहन तन्द्रा टूट गई। वह चलने को हुआ किन्तु फिर रुक गया.........जैसे अन्तिम बार उसने बहुत ही उदास दृष्टि से उस कब्र की ओर देखा। उसकी दृष्टि कब्र के भीतर तक पार हो गई, पर वहां-कुछ नहीं मिला—जैसे वहां भय नहीं, चिन्ता नहीं, कल्पना नहीं—जहां तक दृष्टि जाती है, कोई रंग नहीं, कोई मूर्ति नहीं, कोई प्रकृति नहीं—बिल्कुल निर्विकार है, बिल्कुल शून्य है।

उसके मन में ज़ड़ता भर गई।

और उधर चारों दिशाओं में, आज तक किये गये उसके परिश्रम का वह यथार्थ रूप उसे स्पष्टतया दिखाई दिया। और तब हंसना चाहकर भी वह हंसा नहीं, पुलकित नहीं हुआ।

आज तक के जमा-खर्च का खाता मिलाते हुए बीच में ही उसने सुना, जैसे गीतों की कड़ियों को भेदती हुई कोई बहुत ही धीमी और मधुर कण्ठ-ध्वनि कब्र से उठी—'उमाकान्त बाबू की जय'—

और तब उसने अनुभव किया, जैसे जिस रहस्यमयी नारी को जीवित रहते हुये वह नहीं समझ सका, उसी उपेक्षित, अपमानित, क्षत-विक्षत नारी का वह चरम वैराग्य आज उसे अभयदान दे रहा है।

"उमाकान्त बाबू की जय"—कुछ देर कानों में यही आवाज़ भरे हुये, वह स्तब्ध खड़ा रहा। फिर इसे शुभ कामना और जीवन की निधि समझकर, उसने मन के किसी कोने में संचित कर लिया और तब सहसा, विद्युत की भांति आगे बढ़ गया—आगे-कर्म के पथ पर!

——